सम्पादक
सच्चिदानन्द
वात्स्यायन

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

रूपाम्बरा

आधुनिक हिन्दीके प्रकृति-काव्यका
संकलन और विवेचन

संकलनकर्ता और सम्पादक
सच्चिदानन्द वात्स्यायन
सहायक सम्पादक
सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

भारतीय ज्ञानपीठ
काशी
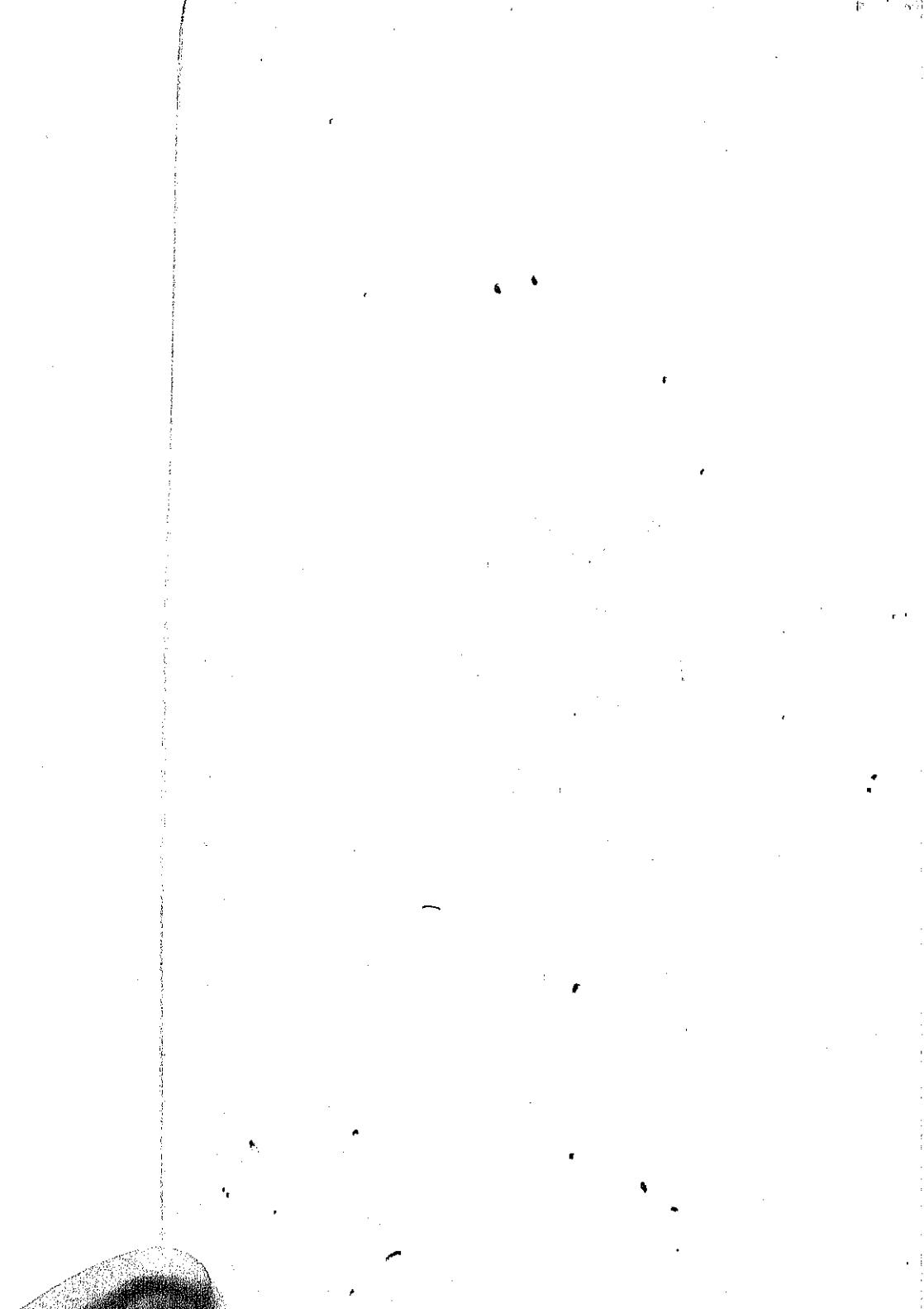
यह ग्रन्थ
श्री सुमित्रानन्दन पन्तकी
षष्ठिपूर्तिके उपलक्ष्यमें
प्रस्तुत किया गया
और
हिन्दी-जगत्‌की शुभाशंसाओंके
प्रतीकके रूपमें
सादर
उन्हें अर्पित है

क्रम-सूची

रूप-श्री

पहला अवतरण : विभावन

दूसरा अवतरण : भावन

तीसरा अवतरण : अनुभावन

रूप-दर्शिका

भूमिका

प्रकृति-काव्य : काव्य-प्रकृति

प्रकृतिकी चर्चा करते समय सबसे पहले परिभाषाका प्रश्न उठ खड़ा होता है। प्रकृति हम कहते किसे हैं? वैज्ञानिक इस प्रश्नका उत्तर एक प्रकारसे देते हैं, दार्शनिक दूसरे प्रकारसे, धर्म-तत्त्वके चिन्तक एक तीसरे ही प्रकारसे। और हम चाहें तो इतना और जोड़ दे सकते हैं कि साधारण व्यक्तिका उत्तर इन सभीसे भिन्न प्रकारका होता है।

और जब हम 'एक प्रकारका उत्तर' कहते हैं, तब उसका अभिप्राय एक उत्तर नहीं है, क्योंकि एक ही प्रकारके अनेक उत्तर हो सकते हैं। इसीलिए वैज्ञानिक उत्तर भी अनेक होते हैं; दार्शनिक उत्तर तो अनेक होंगे ही, और धर्मपर आधारित उत्तरोंकी संख्या धर्मोंकी संख्यासे कम क्यों होने लगी?

प्रश्नको हम केवल साहित्यके प्रसंगमें देखें तो कदाचित् इन अलग-अलग प्रकारके उत्तरोंको एक सन्दर्भ दिया जा सकता है। साहित्यकारकी दृष्टि ही इन विभिन्न दृष्टियोंके परस्पर विरोधोंसे ऊपर उठ सकती है—उन सबको स्वीकार करती हुई भी सामञ्जस्य पा सकती है। किन्तु साहित्यिक दृष्टिकी अपनी समस्याएँ हैं; क्योंकि एक तो साहित्य दर्शन, विज्ञान और धर्मके विश्वासोंसे परे नहीं होता, दूसरे सांस्कृतिक परिस्थितियोंके विकासके साथ-साथ साहित्यिक संवेदनाके रूप भी बदलते रहते हैं।

साधारण बोल-चालमें 'प्रकृति' 'मानव'का प्रतिपक्ष है, अर्थात् मानवेतर ही प्रकृति है—वह सम्पूर्ण परिवेश जिसमें मानव रहता है, जीता है, भोगता है और संस्कार ग्रहण करता है। और भी स्थूल दृष्टिसे देखनेपर प्रकृति मानवेतरका वह अंश हो जाती है जो कि इन्द्रियगोचर है—जिसे हम देख, सुन और छू सकते हैं, जिसकी गन्ध पा सकते हैं और जिसका आस्वादन कर सकते हैं। साहित्यकी दृष्टि कहीं भी इस स्थूल परिभाषाका खण्डन नहीं करती : किन्तु साथ ही कभी अपनेको इसी तक सीमित भी नहीं रखती। अथवा यों कहें कि अपनी स्वस्थ अवस्थामें साहित्यका प्रकृति-

बोध मानवेतर, इन्द्रियगोचर, बाह्य परिवेश तक जाकर ही नहीं रुक जाता; क्योंकि साहित्यिक आन्दोलनोंकी अधोगतिमें विकृतिकी ऐसी अवस्थाएँ आती रही हैं जब उसने बाह्य सौन्दर्यके तत्त्वोंके परिगणनको ही दृष्टिकी इति मान लिया है। यह साहित्यकी अन्तःशक्तिका ही प्रमाण है कि ऐसी रुग्ण अवस्थासे वह फिर अपनेको मुक्त कर ले सका है, और न केवल आभ्यन्तरकी ओर उन्मुख हुआ है बल्कि नयी और व्यापकतर संवेदना पाकर उस आभ्यन्तरके साथ नया राग-सम्बन्ध भी जोड़ सका है।

राग-सम्बन्ध अनिवार्यतया साहित्यका क्षेत्र है। किन्तु राग-सम्बन्ध उतने ही अनिवार्य रूपसे साहित्यकारकी दार्शनिक पीठिकापर निर्भर करते हैं। यदि हम मानते हैं—जैसा कि कुछ दर्शन मानते रहे—कि प्रकृति सद् है, मूलतः कल्याणमय है, तब उसके साथ हमारा राग-सम्बन्ध एक प्रकारका होगा—अथवा हम चाहेंगे कि एक प्रकारका हो। यदि हम मानते हैं कि प्रकृति मूलतः असद् है, तो स्पष्ट ही हमारी राग-वृत्तिकी दिशा दूसरी होगी। यदि हम मानते हैं कि प्रकृति त्रिगुण-मय है किन्तु अविवेकी है, तो हमारी प्रवृत्ति और होगी : और यदि हमारी धारणा है कि प्रकृति सदसद्से परे है तो हम उसके साथ दूसरे ही प्रकारका राग-सम्बन्ध चाहेंगे—अथवा कदाचित् यही चाहेंगे कि जहाँ तक प्रकृतिका सम्बन्ध है हम वीतराग हो जावें! विभिन्न युगोंके साहित्यकारोंके प्रकृतिके प्रतिभावकी पड़ताल करनेसे हम उन भावोंमें और साहित्यकारके प्रकृति-दर्शनमें स्पष्ट सम्बन्ध देख सकेंगे।

कवियोंके प्रकृति-वर्णन अथवा निरूपणकी चर्चामें उनके आधारभूत दार्शनिक विचारों अथवा धर्म-विश्वासों तक जाना यहाँ कदाचित् अनपेक्षित होगा। उतने विस्तारके लिए यहाँ स्थान भी नहीं है। किन्तु कविके संवेदन पर उसकी दार्शनिक अथवा धार्मिक आस्थाके प्रभावकी अनिवार्यताको स्वीकार करके हम प्रकृति-वर्णनकी परम्पराका अध्ययन कर सकते हैं। वैदिक कवि—मन्त्रद्रष्टाको कवि कहना उसकी अवहेलना नहीं है—प्रकृतिकी सत्ता का सम्मान करता था और मानता था कि उसकी अनुकूलता ही सुख और समृद्धिका आधार है। सुखी और सम्पूर्ण जीवनका जो चित्र उसके सम्मुख था उसमें मनुष्यकी और प्रकृतिकी शक्तियोंकी परस्पर अनुकूलता आवश्यक

थी। प्राकृतिक शक्तियोंको वह देवता मानता था, किन्तु देवता होनेसे ही वे अनुकूल हो जावेंगी ऐसा उसका विश्वास नहीं था—उनकी अनुकूलताके लिए वह प्रार्थी था। कहा जा सकता है कि उसकी दृष्टिमें ये शक्तियाँ सद्-असद्से परे ही थीं किन्तु उन्हें अनुकूल बनाया जा सकता था।

यथा द्यौश्च पृथ्वी च न बिभीतो न रिष्यतः
एवा मे प्राण मा बिभेः।
यथाऽहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः
एवा मे प्राण मा बिभेः॥

यह प्रार्थना करनेवाला व्यक्ति जहाँ यह कामना करता था कि प्रकृति-की शक्तियोंके प्रति उसके प्राण भयरहित हों, वहाँ यह भी मानता था कि वे शक्तियाँ भी राग-द्वेषसे परे हैं। इतना ही नहीं, मध्य युगकी पाप-पुण्यकी भावना भी उसमें नहीं थी—हो भी नहीं सकती थी जबतक कि वह प्रकृति को पापमूलक न मान लेता—और उसके निकट दिन और रात, प्रकाश और अन्धकार, सत्य और असत्य, सभी एकसे निर्भय थे। वह अपनी प्रार्थनामें यह भी कहता था कि—

यथा सत्यं चाऽनृतं च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः॥

यह कहनेका साहस मध्य कालके कविको नहीं हो सकता था—पापकी परिकल्पना कर लेनेके बाद यह सम्भावना ही सामने नहीं आती कि अनृत भी सत्यके समान ही निर्भय हो सकता है।

वैदिक कवि क्योंकि प्रकृतिको न सद् मानता है न असद्, इसलिए प्रकृतिके प्रति उसका भाव न प्रेमका है न विरोधका। वह मूलतः एक विस्मयका भाव है।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे

यह उसके भव्य विस्मयकी ही उक्ति है। और यदि वह आगे पूछता है—

कस्मै देवाय हविषा विधेम ?

तो यह किंकर्तव्यता भी आतंकका नहीं, शुद्ध विस्मयका ही प्रतिबिम्ब है। उषा-सूक्त में उषाके रूपका वर्णन, पृथ्वी-सूक्त में पृथ्वीसे पृथ्वी-पुत्र मनुष्यके सम्बन्धका निरूपण, इन्द्र और मरुत्के प्रति उक्तियाँ—काव्यकी दृष्टिसे ये सभी वैदिक मानवके विस्मय भावको ही प्रतिबिम्बित करती हैं—

उस शिशुवत् विस्मयको जिसमें भयका लेश भी नहीं है। ऋग्वेद का **मण्डूक-सूक्त** इस विस्मयाह्लाद का उत्तम उदाहरण है।

वाल्मीकिके **रामायण**में प्रकृतिका काव्य-रूप बहुत कुछ बदल गया है। वाल्मीकिके राम यद्यपि तुलसीदासके मर्यादा-पुरुषोत्तमसे भिन्न कोटिके नायक हैं, तथापि मर्यादाका भाव वाल्मीकिमें अत्यन्त पुष्ट है। बल्कि यह भी कहना अनुचित न होगा कि जिस घटनासे आदि-काव्यका उद्भव माना जाता है वह घटना ही एक मर्यादा अंकित करती है। वास्तवमें क्रौंच-वध वाली घटनामें जो लोग शुद्ध कारुण्य देखते हैं वे थोड़ी-सी भूल करते हैं। आदि-कविने क्षुब्ध होकर निषादको जो शाप दिया था, उसके मूलमें शुद्ध जीव-दयाकी अपेक्षा मर्यादा-भंगके विरोधका ही भाव अधिक था। पक्षी-मात्रको मारनेका विरोध वाल्मीकिने नहीं किया। परिस्थिति-विशेषमें पक्षीके वधको अधर्म मानकर ही उन्होंने व्याधकी शाश्वत अप्रतिष्ठाकी कामना की। उस परिस्थितिमें कोई भी प्राणी अवध्य है, यही विश्वास **महाभारत**में भी पाया जाता है जो मृगयाके वृत्तान्तोंसे भरा हुआ है। पाण्डुकी मृत्यु जिस दारुण परिस्थितिमें हुई उसका कारण भी मृगया नहीं थी—मृगया तो राज-धर्मका अंग था—किन्तु परिस्थिति-विशेषमें मृगपर बाण छोड़नेका अधर्म अथवा मर्यादा-भंग ही राजाके प्राणान्तका कारण हुआ। यह भी उल्लेख्य है कि क्रौंचकी कथामें क्रौंच-युगलको शापग्रस्त मुनि-युगल सिद्ध करना आवश्यक नहीं समझा गया : वाल्मीकिकी करुणा पक्षीको पक्षी मानकर ही दी गयी। किन्तु **महाभारत**में राजाके प्राण मृगके प्राणसे कदाचित् अधिक मूल्यवान् समझे गये, इसलिए अपराध और दण्डमें सामंजस्य लानेके लिए मृग-युगलको मुनि-युगल सिद्ध करना पड़ा। जो हो, यहाँ भी जीव-दयाका आत्यन्तिक आदर्श नहीं है, बल्कि जीव-वधकी मर्यादा का ही निर्देश है।

किन्तु जीव-दयाके आदर्शके विकासका अध्ययन हमारा विषय नहीं है। हम प्रकृतिके प्रति वाल्मीकिके राग-भावकी, और वैदिक कविके भावसे उसके अन्तरकी चर्चा कर रहे थे। काव्य-युगमें यह अन्तर और भी स्पष्ट हो जाता है—दूसरे शब्दोंमें मानवीय दृष्टिके विकासकी एक और सीढ़ी परि-लक्षित होने लगती है। शास्त्रीय शब्दावलीमें यदि कहा जाये कि प्रकृति

काव्यका आलम्बन न रहकर क्रमशः उद्दीपन होती जाती है, तो यह कथन असंगत तो न होगा, किन्तु बात इतनी ही नहीं है। एक तो प्रकृति-वर्णनका उद्दीपनके लिए उपयोग वाल्मीकिने भी किया—किष्किन्धा काण्डका शरद्-वर्णन यद्यपि प्रकृति-वर्णनकी दृष्टिसे सच्चा और खरा है तथापि उसके वहाँ होनेका मुख्य काव्यगत कारण रामके पत्नी-विरहको उद्दीपित रूपमें हमारे सम्मुख लाना ही है। यही कारण है कि वह वर्णन जो बिम्ब हमारे सम्मुख उपस्थित करता है वे सभी शृंगार-भावसे अनुप्राणित हैं। दूसरे, काव्य युगके महारथियोंने प्रकृतिको केवल उद्दीपन रूपमें देखा हो, ऐसा भी नहीं है। बल्कि कालिदासका प्रकृति-पर्यवेक्षण और अध्ययन तथा उनका प्रकृति-प्रेम भारतीय काव्य-परम्परामें अद्वितीय है।

वास्तवमें अन्तरको ठीक-ठीक समझनेके लिए जो प्रश्न पूछना होगा वह यह नहीं है कि प्रकृतिके उपयोगमें क्या अन्तर आ गया। प्रश्न यह पूछना चाहिए कि जिस प्रकृतिकी ओर कवि आकृष्ट था वह प्रकृति कैसी थी?

कालिदासका प्रकृति-प्रेम वाल्मीकिसे कम हार्दिक नहीं है। न उनका काव्य आलम्बनके रूपमें प्रकृतिको आदि-कविकी रचनाओंसे कम महत्त्व देता है। फिर भी उसमें वाल्मीकिकी-सी सहजता नहीं है। न वैदिक कवि का विस्मय भाव ही है। कालिदासकी प्रकृति अपेक्षया अलंकृत है। कवि जितना प्रकृतिसे परिचित है उतना ही प्रकृति-सम्बन्धी अनेक कवि-समयोंसे भी—अर्थात् वह अपने काव्यकी परम्परासे भी परिचित है और उस परिचयकी अवज्ञा नहीं करता है। कवि-समयको सत्य वह नहीं मानता, क्योंकि उसका अनुभव उन्हें मिथ्या सिद्ध करता है; किन्तु फिर भी उन समयोंका वह व्यवहार करता है क्योंकि काव्य-सौन्दर्यके लिए परम्परासे काम लेनेका यह भी एक साधन है। ऋतुसंहारके ऋतु-वर्णन अथवा कुमारसम्भवके हिमालय-वर्णनमें परम्परागत कवि-समयोंका कविके निजी अनुभवके साथ ऐसा अभिन्न योग हुआ है कि इन तत्त्वोंका विश्लेषण सौन्दर्यको नष्ट किये बिना हो ही नहीं सकता।

आवश्यक परिवर्तनके साथ यही बात भवभूतिके प्रकृति-वर्णनके विषयमें भी कही जा सकती है।

वास्तवमें काव्य-युगका कवि जो प्रकृतिको केवल आलम्बनके रूपमें अपने सम्मुख नहीं रख सका, और न ही उसे निरे उद्दीपनके रूपमें एक उपकरण का स्थान दे सका, उसका कारण यही था कि प्रकृतिसे उसका सम्बन्ध

भिन्न प्रकारका हो गया था। व्यवस्थित और निरापद जीवनमें उसके लिए यह आवश्यक नहीं रहा था कि प्रकृतिकी शक्तियोंको वैसे आत्यन्तिक और मानवीकृत अथवा देवतावत् रूपोंमें देखे जैसे रूप वैदिक कविके उद्दिष्ट रहे। दूसरी ओर प्रकृतिसे उसका सम्बन्ध वैसा उच्छिन्न भी नहीं हो गया था जैसा रीतिकालीन कवियोंका, जिनके निकट प्रकृति केवल एक अभिप्राय रह गयी थी, और प्रकृतिका चित्रण केवल प्रकृति-सम्बन्धी कवि-समयोंकी एक न्यूनाधिक चमत्कारी सूची। काव्य-युगके संस्कृत कविके लिए प्रकृति शोभन, रम्य और स्फूर्तिप्रद थी। प्राकृतिक शक्तिके रूपमें उसे मानवका प्रतिपक्ष माना जा सकता था, किन्तु अपने इस नये रूपमें वह मानवकी सहचरी हो गयी थी।

निःसन्देह संस्कृत काव्य-परम्पराकी समवर्तिनी एक दूसरी काव्य-परम्परा भी रही जिसकी खोजमें हमें प्राकृत और अपभ्रंश साहित्यकी ओर देखना होगा। संस्कृत और प्राकृत काव्य बराबर एक-दूसरेको प्रभावित करते रहे; और कवि-समयों अथवा अभिप्रायोंका आदान-प्रदान उनमें होता रहा। किन्तु विस्तारसे बचनेके लिए उनकी चर्चा यहाँ छोड़ दी जा सकती है। ऐसा इसलिए भी अनुचित न होगा कि इसी प्रकारका सम्बन्ध हम अनन्तर खड़ी बोली हिन्दीकी कवितामें तथा उसकी पृष्ठ-भूमि और उसके परिपार्श्वमें फैले हुए लोक-काव्यमें भी देख सकते हैं। इनमें भी आदान-प्रदान निरन्तर होता रहा, किन्तु इस क्रियाकी बढ़ी हुई गति आधुनिक युगकी एक विशेषता मानी जा सकती है। क्यों यह आदान-प्रदान इस कालमें अतिरिक्त तीव्रताके साथ होने लगा, इस प्रश्नका उत्तर भी हमें आधुनिक संवेदनाके रूप-परिवर्तनमें मिलेगा। मानव और प्रकृति दोनोंकी नयी अवधारणाने स्वभावतया उनके परस्पर सम्बन्धको बदल दिया और इसलिए प्रकृतिके वर्णन अथवा चित्रणको अनुप्राणित करनेवाले राग-तत्त्व भी बदल गये।

किन्तु बीचकी सीढ़ीकी उपेक्षा कर जाना भ्रान्तिका कारण हो सकता है।

प्रकृति-काव्यके विवेचनमें वास्तवमें समूचे रीति-युगको छोड़ ही देना चाहिए, क्योंकि रीतिकालीन कवियोंमेंसे कुछने यद्यपि प्रकृतिके सूक्ष्म पर्य-वेक्षणका प्रमाण दिया है, तथापि उनके निकट प्रकृति काव्य-चमत्कारके लिए उपयोज्य एक साधन-मात्र है। प्रकृतिके मानवीकरणकी बात तो दूर, रीति-कालके कवि उसकी स्वतन्त्र इयत्ताके प्रति भी उदासीन हैं—उनके निकट वह केवल एक अभिप्राय है—अलंकृतिके काम आ सकता है। यह प्रकृतिसे राग-सम्बन्धकी जर्जरताका ही परिणाम था कि रीति-कालीन कवि प्राकृतिक तत्त्वोंकी सूची प्रस्तुत कर देना ही उद्दीपनके लिए पर्याप्त समझने लगा। यदि उसका राग-सम्बन्ध कुछ भी प्राणवान् होता, तो वह समझता कि प्रकृति-सम्बन्धी शब्दावलीका ऐसा कोशवत् उपयोग उद्दीपन का भी काम नहीं कर सकता क्योंकि जिस काव्यमें रागका अभाव स्पष्ट लक्षित होता है वह दूसरेमें राग-भाव नहीं जगा सकता, अपने अभावको चाहे कितने ही कौशलसे छिपाया गया हो। प्रकृतिके बाहर आकारोंकी सूची बनानेकी यह प्रवृत्ति रीति-काल तक ही सीमित नहीं रही बल्कि आधुनिक काल तक चली आयी। बीसवीं शतीमें भी जो महाकाव्य लिखे गये वे अधिकतर प्रकृति-वर्णनकी इसी लीकको पकड़े रहे और पिंगल-ग्रन्थोंने भी अभ्यासियोंके लिए विभावोंकी सूचियाँ प्रस्तुत कीं।

वास्तवमें इस जीर्ण परम्परासे विमुख होकर प्रकृतिको काव्यमें नये प्राण देनेकी प्रवृत्ति हिन्दीमें पश्चिमी साहित्यके, अथवा उससे प्रभावित बंगला साहित्यके सम्पर्कसे जागी। इस कथनका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि खड़ी बोलीका प्रकृति-वर्णन अनुकृति है, क्योंकि अनुकृतिका विरोध ही तो इसकी प्रेरणा रही। अभिप्राय यह भी नहीं है कि हिन्दी कवि अपने पूर्वजोंकी अनुकृति छोड़कर विदेशी कवियोंकी अनुकृति करने लगे, क्योंकि हिन्दीकी नयी प्रवृत्ति प्राचीनतर भारतीय परम्पराओंसे कटी हुई कदापि नहीं थी। बल्कि उदाहरण देकर दिखाया जा सकता है कि कैसे छायावादके और परवर्ती प्रमुख कवियोंने पूरे आत्म-चेतन भावसे संस्कृत काव्योंसे और वैदिक साहित्यसे न केवल प्रेरणा पायी वरन् उपमाएँ और बिम्ब ज्योंके-त्यों ग्रहण किये।

पश्चिमी साहित्यसे प्रेरणा पानेका आशय यह भी नहीं है कि यदि पश्चिमसे सम्पर्क न हुआ होता तो हिन्दी साहित्यमें प्रकृतिकी नयी चेतना न जागी होती। वास्तवमें किसी भी प्रवृत्तिके बारेमें यह नहीं कहा जा सकता कि वह किसी विशेष साहित्यमें कभी नहीं प्रकट होगी। जो साहित्य

जीवित है—अर्थात् जिस साहित्यको रचनेवाला समाज जीवित है—उसमें समय-समयपर जीर्णताका विरोध करनेवाली नयी प्रवृत्तियाँ प्रकट होंगी ही। दूसरे साहित्योंसे प्रभाव ग्रहण करनेकी भी एक क्षमता और तत्परता होनी चाहिए जो हर साहित्यमें हर समय वर्तमान नहीं होती बल्कि विकास अथवा परिपक्वताकी विशेष अवस्थामें ही आती है। इसलिए किसी प्रभाव-से जो रचनात्मक प्रेरणा मिली है उसे अनुकृति कहना या हेय मानना अनुचित है और बहुधा ऐसी समालोचना करनेवालेके आत्मावसाद अथवा हीनभावका ही द्योतक होता है। शिशु बोलना अनुकरणसे ही सीखता है, किन्तु कवि-समुदायमें रख देनेसे ही बालक कविता नहीं करने लगता। जब वह कविता रचता है तो वह इतने भरसे अनुकृति नहीं हो जाती कि वह कवियोंके सम्पर्कमें रहा और उनसे प्रभाव ग्रहण करता रहा। उसकी ग्रहणशीलता और उसपर आधारित रचना-प्रवृत्ति स्वयं उसके विकास और उसकी शक्तिके द्योतक हैं।

पश्चिमी काव्यके परिचयसे भारतीय कवि एक बार फिर प्रकृतिकी स्वतन्त्र सत्ताकी ओर आकृष्ट हुआ। कहा जा सकता है कि इसी परिचयके आधारपर वह स्वयं अपनी परम्पराको नयी दृष्टिसे देखने लगा और उसके सार तत्त्वोंको नया सम्मान देने लगा। निःसन्देह अनुकरण भी हुआ, किन्तु जो केवल मात्र अनुकरण था वह कालान्तरमें उसी गौण पदपर आ गया जो उसके योग्य था। उषा-सुन्दरीका मानवी रूप छायावादियोंका आविष्कार नहीं था, और उसकी परम्परा ऋग्वेद तक तो मिलती ही है। किन्तु जब कविने छायाको भी मानवी आकृति देकर पूछा :

> **कौन, कौन तुम, परिहृत-वसना**
> **म्लानमना, भू-पतिता-सी ?**

तब उसके अवचेतनमें वैदिक परम्परा उतनी नहीं रही होगी जितना अंग्रेज़ी रोमांटिक काव्य जिसमें प्राकृतिक शक्तियोंका मानवीकरण साधारण बात थी।

किन्तु नयापन केवल इतना नहीं था—पुरानेपनका नया सँवार-भर नहीं था। मानवीकरण केवल विषयाश्रित नहीं था। बल्कि प्रकृतिके मानवी-करणका विषयिगत रूप और भी अधिक महत्त्वपूर्ण था।

२

मानवीकरणका यह पक्ष वास्तवमें वैयक्तिकीकरणका पक्ष था। यही तत्त्व था जिसने प्रकृति-वर्णनको प्राकृतिक अभिप्रायोंके वर्णनसे अलग करके काव्योचित दृष्टिका रूप दे दिया। यद्यपि नये जागरणने हिन्दी कविताका सम्बन्ध रीतिकालके अन्तरालके पार अपभ्रंशों, प्राकृतों और संस्कृत काव्यकी परम्परासे जोड़ा था, तथापि इसके आधारपर जो दृश्य-चित्र सामने आये वे नये होकर भी इस अर्थमें एकरूप थे कि विभिन्न कवियोंके द्वारा 'प्रस्तुत किये गये होनेपर भी वे मूलत: समान थे—ऐसा नहीं था कि उस विशेष कविके व्यक्तित्वसे उन्हें अलग किया ही न जा सके। दार्शनिक पृष्ठिकाके विचारसे कहा जा सकता है कि सुमित्रानन्दन पन्तने प्रकृतिकी कल्पना प्रेयसीके रूपमें की और 'निराला' ने संवाहिका शक्तिके रूपमें; और दोनों कवियोंके प्रकृति-चित्रणमें समानता और अन्तर दोनों ही पहचाने जा सकते हैं। किन्तु जिस व्यक्तिगत अन्तरकी बात हम कह रहे हैं वह इससे गहरा था। नि:सन्देह काव्यगत चित्रोंपर कविके व्यक्तित्वके इस आरोपका अध्ययन पश्चिमी साहित्यके सन्दर्भमें किया जा सकता है और दिखाया जा सकता है कि उसमें भी अंग्रेजी रोमांटिक काव्यके व्यक्तिवादका कितना प्रभाव था। और यदि व्यक्तिवादके विकृत प्रभावोंको ही ध्यानमें रखा जाय तो यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि पश्चिमी प्रभाव यहाँ भी विकृतियों-का आधार बना, जैसा कि वह पश्चिममें भी बना था। किन्तु किसी प्रभावका केवल उसकी विकृतियोंके आधारपर मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। और रोमांटिक व्यक्तिवादका स्वस्थ प्रभाव यह था कि उसने प्रकृतिके चित्रोंको एक नयी रागात्मक प्रामाणिकता दी। जो तथ्य था और सबका 'जाना हुआ' था उसे उसने एक व्यक्तिका 'पहचाना हुआ' बनाकर उसे सत्यमें परिणत कर दिया। जहाँ यह व्यक्तिगत दर्शन केवल असाधारणत्वकी खोज हुआ—और यह प्रवृत्ति पश्चिममें भी लक्षित हुई जैसी कि हिन्दीके कुछ नये कवियोंमें—वहाँ उत्तम काव्यका निर्माण नहीं हुआ। जैसा कि रामचन्द्र शुक्लने कहा है :

केवल असाधारणत्व-दर्शनकी रुचि सच्ची सहृदयताकी पहचान नहीं है।

किन्तु जहाँ व्यक्तिगत दर्शनने उसपर खरी अनुभूतिकी छाप लगा दी वहाँ उसके देखे हुए बिम्ब और दृश्य अधिक प्राणवान् और जीवन-स्पन्दित हो उठे। यह भी रामचन्द्र शुक्लका ही कथन है कि

वस्तुओंके रूप और आस-पासकी वस्तुओंका ब्यौरा जितना ही स्पष्ट

या स्फुट होगा उतना ही पूर्ण बिम्ब ग्रहण होगा और उतना ही अच्छा दृश्य-चित्रण कहा जायेगा।

और यह व्यक्तिगत दर्शन या निजी अनुभूतिकी तीव्रता ही है जो वस्तुओंके रूपको 'स्पष्ट या स्फुट' करती है। प्रकृतिके जो चित्र रीति-कालके कवि प्रस्तुत करते थे, वे भी यथातथ्य होते थे। उस काव्यकी समवर्तिनी चित्र-कलामें शिकार इत्यादिके जो दृश्य आँके जाते थे वे भी उतने ही रीति-सम्मत और यथातथ्य होते थे। किन्तु व्यक्तिगत अनुभूतिका स्पन्दन उनमें नहीं होता था और इसीलिए उनका प्रभाव वैसा मर्मस्पर्शी नहीं होता था। बाँसोंके झुरमुट पहले भी देखे गये थे, किन्तु सुमित्रानन्दन पन्तने जब लिखा—

बाँसों का झुरमुट—
सन्ध्या का झुटपुट—
हैं चहक रही चिड़ियाँ :
टी-वी-टी टुट्-टुट्।

तब यह एक झुरमुट बाँसोंके और सब झुरमुटोंसे विशिष्ट होगया, क्योंकि व्यक्तिगत दर्शन और अनुभूतिके खरेपनने उसे एक घनीभूत अद्वितीयता दे दी। इस प्रकारके उदाहरण 'निराला' और पन्तकी कविताओंसे अनेक दिये जा सकते हैं। परवर्ती काव्यमें भी वे प्रचुरतासे मिलेंगे, भले ही उनके साथ-साथ निरे असाधारणत्वके मोहके भी अनेक उदाहरण मिल जावें। जब हम दृश्य-चित्रणकी परम्पराका अध्ययन इस दृष्टिसे करते हैं तब यह स्पष्ट हो जाता है कि छायावादने प्रकृतिको एक नया सन्दर्भ और अर्थ दिया, जो उसे न केवल उससे तत्काल पहलेके खड़ी बोलीके युगसे अलग करता है बल्कि खड़ी बोलीके उत्थानसे पहलेके सभी युगोंसे भी अलग करता है। सुमित्रानन्दन पन्त और सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' इस नये पथके शलाका-पुरुष हैं, किन्तु इसके पूर्व-संकेत श्रीधर पाठक और रामचन्द्र शुक्लके प्रकृति काव्यमें ही मिलने लगते हैं।

नयी कविता, जहाँ तक प्रकृति-चित्रोंके अनुभूतिगत खरेपनकी बात है, छायावादसे अलग दिशामें नहीं गयी है। असाधारणकी खोजके उदाहरण उसमें अधिक मिलेंगे, और तन्त्रका कच्चापन अथवा भाषाका अटपटापन भी कहीं अधिक। बल्कि भाषाके विषयमें एक प्रकारकी अराजकता भी

लक्षित हो सकती है, जिसका विस्तार 'लोक-साहित्यकी ओर उन्मुखता' या 'लोकके निकटतर पहुँचनेके लिए बोलियोंसे शब्द ग्रहण करनेकी प्रवृत्ति' की ओट लेनेपर भी छिप नहीं सकता। **पल्लव** की भूमिकामें पन्तने जिस सूक्ष्म शब्द-चेतनाका परिचय दिया था, भाषाके व्यवहारके प्रति वैसा जागरूक भाव नयी कविताके विरले कवियोंमें ही मिलेगा (छायावाद-युगमें भी ऐसे कवि कम विरल नहीं थे; अराजकता ऐसी नहीं थी)। ये दोष उन नयी प्रवृत्तियोंका ऋण पक्ष हैं जो कि नये काव्यको अनेक समानताओं के बावजूद छायावादके काव्यसे पृथक् करती हैं।

किन्तु जहाँ तक प्रकृति-वर्णन और प्रकृति-चित्रणका प्रश्न है, नयी कविताकी विशिष्ट प्रवृत्तियाँ सब ऋण-मूलक ही नहीं हैं, न उसका धन पक्ष छायावादसे सर्वथा एक-रूप। उसकी विशिष्टताको ठीक-ठीक पहचाननेके लिए हमें फिर अपने तत्सम्बन्धी प्रश्नके सही निरूपणपर बल देना होगा। प्रकृतिके उपयोगमें क्या अन्तर आया, यह प्रश्न भी अप्रासंगिक नहीं है; पर मूल्योंको ठीक-ठीक समझनेके लिए इससे गहरे जाकर फिर यही प्रश्न पूछना चाहिए कि जिस प्रकृतिकी ओर कवि आकृष्ट है वह प्रकृति कैसी है ?

स्पष्ट है कि आजका कवि जिस प्रकृतिसे परिचित होगा वह उससे भिन्न होगी जो आरण्यक कवियोंकी परिचित रही। यह नहीं कि वन-प्रदेश आज नहीं है, या झरने नहीं बहते, या मृग-छौने चौकड़ी नहीं भरते, या ताल-सरोवरोंमें पक्षी किलोलें नहीं करते। पर आजके क़सबों और शहरोंमें रहने वाले कविके लिए ये सब चित्र अपवाद-रूप ही हैं। केवल इन्हींका चित्रण करनेवाला लेखक एक प्रकारका पलायनवादी ही ठहरेगा—क्योंकि वह अपने अनुभूतके मुख्यांशकी उपेक्षामें एक अप्रधान अंशको तूल दे रहा होगा। इतना ही नहीं, अनेकोंके लिए तो गाँव-देहातके दृश्य भी इनकी अपेक्षा कुछ ही कम अपरिचित होंगे, और उन्हें 'अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है!' जैसे वर्णन न केवल काव्यकी दृष्टिसे घटिया लगेंगे बल्कि उनकी अनुभूति भी चेष्टित और अयथार्थ लगेगी। भारतका कृषि-प्रधानत्व अब भी मिटा नहीं है और इसलिए यह प्रायः असम्भव है कि किसी भारतीय कविने खेत देखे ही न हों, पर 'खेत देखे हुए' होने और 'देहाती प्रकृतिका अनुभव रखने'में अन्तर वैसा नगण्य नहीं है।

अनुभव-सत्यतापर—व्यक्तिगत अनुभूतिके खरेपनपर—जो आग्रह छाया-वादने आरम्भ किया था—काव्यके परम्परागत अभिप्रायों और ऐतिहासिक

पौराणिक वृत्तको ही अपना विषय न मानकर, अनुभूति-प्रत्यक्ष और अन्त-श्चेतन-संकेतितको सामने लाना छायावादी विद्रोहका एक रूप रहा—वह नयी कवितामें भी वर्तमान है। पर कृतिकारत्व जब समाजके किसी विशिष्ट सुविधा-सम्पन्न अंग तक सीमित नहीं रहा है, तब यह सच्चाईका आग्रह ही कविके क्षेत्रको मर्यादित भी करता है। जिस गिरि-वन-निर्झर के सौन्दर्यको संस्कृतका कवि किसी भी प्रदेशमें मूर्त्त कर सकता था, उसे यथार्थमें प्रतिष्ठित करनेके लिए आज कवि पहले आपको मंसूरीकी सैर पर ले जाता है या नैनीतालकी झीलपर, या कश्मीर या दार्जिलिङ्; जिस ग्राम-सुषमाका वर्णन खड़ी बोलीके कवि इस शतीके आरम्भमें भी इतने सहज भावसे करते थे, उसे सामने लानेसे पहले कवि अपने प्रदेश अथवा अंचलकी सीमा-रेखा निर्धारित करनेको बाध्य होता है—क्योंकि वह जानता है कि प्रत्येक अंचलका ग्राम-जीवन विशिष्ट है और एकका अनु-भव दूसरेको परखनेकी कसौटी नहीं देता—और यही कारण है कि नयी कविताके प्रकृति-वर्णनमें ऐसे दृश्योंका वर्णन अधिक होने लगा है जो किसी हद तक प्रादेशिकतासे परे हो सकते हैं—जो प्रकृति-क्षेत्रकी 'आत्य-न्तिक' घटनाएँ हैं—सूर्योदय, सूर्यास्त, बरसातकी घटा, आँधी''''इतना ही नहीं, उसमें गोचर अनुभवोंका विपर्यय भी अधिक होता है। यथा, 'दृश्य' को 'मूर्त्त' करनेके लिए वह जो अनुभूति-'चित्र' हमारे सम्मुख लाता है उसका आधार दृष्टि (अथवा घ्राण) न होकर स्पर्श हो जाता है—अर्थात् वह 'दृश्य' रहता ही नहीं। वसन्तके वर्णनमें फूलों-कोपलोंका 'स्पष्ट और स्फुट ब्यौरा' देने चलते ही एक प्रदेश अथवा क्षेत्रके साथ बँध जाना पड़ता, और यही बात गन्धोंकी चर्चासे होती; पर वसन्तको यदि केवल धूपकी स्निग्ध गरमाईके आधारपर ही अनुभूति-प्रत्यक्ष किया जा सके तो प्रादेशिक सीमा-रेखाएँ क्यों खींची जावें ?

निस्सन्देह अति कर जानेपर यही प्रवृत्ति स्वयं अपनी शत्रु हो जा सकती है और अनुभूति-सत्यता तथा व्यापकताका द्विमुख आग्रह फिर ऐसी स्थिति ला सकता है जिसमें कविता यन्त्रवत् कुशलताके साथ बने-बनाये अभिप्रायोंका निरूपण, रक्त-मांस-हीन बिम्बों और प्रतीकोंका सृजन हो जावे। प्रतीक ही नहीं, बिम्ब भी कितनी जल्दी प्रभावहीन, निष्प्राण अभिप्राय-भर हो जाते हैं, समकालीन साहित्यमें नागफनी, कैक्टस और गुलमोहरकी छीछालेदर इसका शिक्षाप्रद उदाहरण है ! पर अभी तो खतरा अधिकतर सैद्धान्तिक है, और अभी नयी कविताके सम्मुख अपनेको

अपनी प्रकृतिके अनुरूप बनानेके प्रयत्नके लिए काफ़ी खुला क्षेत्र है। बल्कि अभी तो व्यापक प्रतीकोंकी इस खोजकी ओर अल्प-संख्य कवि ही प्रवृत्त हुए हैं, और प्रामाणिकताका आग्रह आंचलिक, प्रादेशिक अथवा पारिवेशिक प्रवृत्तियोंमें ही प्रतिफलित हो रहा है।

• •

नयी काव्य प्रवृत्तियोंको सामने रखकर एक अर्थमें कहा जा सकता है कि प्रकृति-काव्य अब वास्तवमें है ही नहीं। एक विशिष्ट अर्थमें यह भी कहा जा सकता है कि छायावादका प्रकृति-काव्य अपनी सीमाओंके बावजूद अन्तिम प्रकृति-काव्य था; यदि छायावादी काव्य मर गया है तो उसके साथ ही प्रकृति-काव्यकी अन्त्येष्टि भी हो चुकी है। किन्तु ऊपरके निरूपणसे यह स्पष्ट होना चाहिए कि ऐसा एक विशिष्ट अर्थमें ही कहा जा सकता है; और वह विशेषता नये प्रकृति-काव्यका शील-निरूपण करनेमें सहायक होती है।

छायावादके लिए 'प्रकृति' मानवेतर यथार्थका पर्याय नहीं थी, मानवके साथ मानव-निर्मितिको छोड़कर शेष जगत् भी उसकी प्रकृति नहीं था। बल्कि इस शेषमें जो सुन्दर था, जो सौष्ठव-सम्पन्न था, जो 'रूप'-सम्पन्न था, वही उसका लक्ष्य था। शास्त्रीय ('क्लासिकल') दृष्टिमें प्रकृतिकी हर क्रिया और गति-विधि एक व्यापक नियम अथवा ऋतकी साक्षी है; छायावादकी दृष्टि ऋतको अमान्य नहीं करती थी पर उसका आग्रह रूप-सौष्ठवपर था। नयी कवितामें रूपका आग्रह कम नहीं है, पर उसने सौष्ठव वाले पक्षको छोड़ दिया है, तद्वत्तापर ही वह बल देती है। 'व्यवस्थित संसार'के स्थानमें 'सुन्दर संसार'की प्रतिष्ठा हुई थी; अब उसके स्थानमें 'तद्वत् संसार' ही सामने रखा जाता है। इतना ही नहीं, मानव-निर्मितिको भी उससे अलग नहीं किया जाता—क्योंकि ऐसी असम्पृक्त प्रकृति अब दीखती ही कहाँ है !
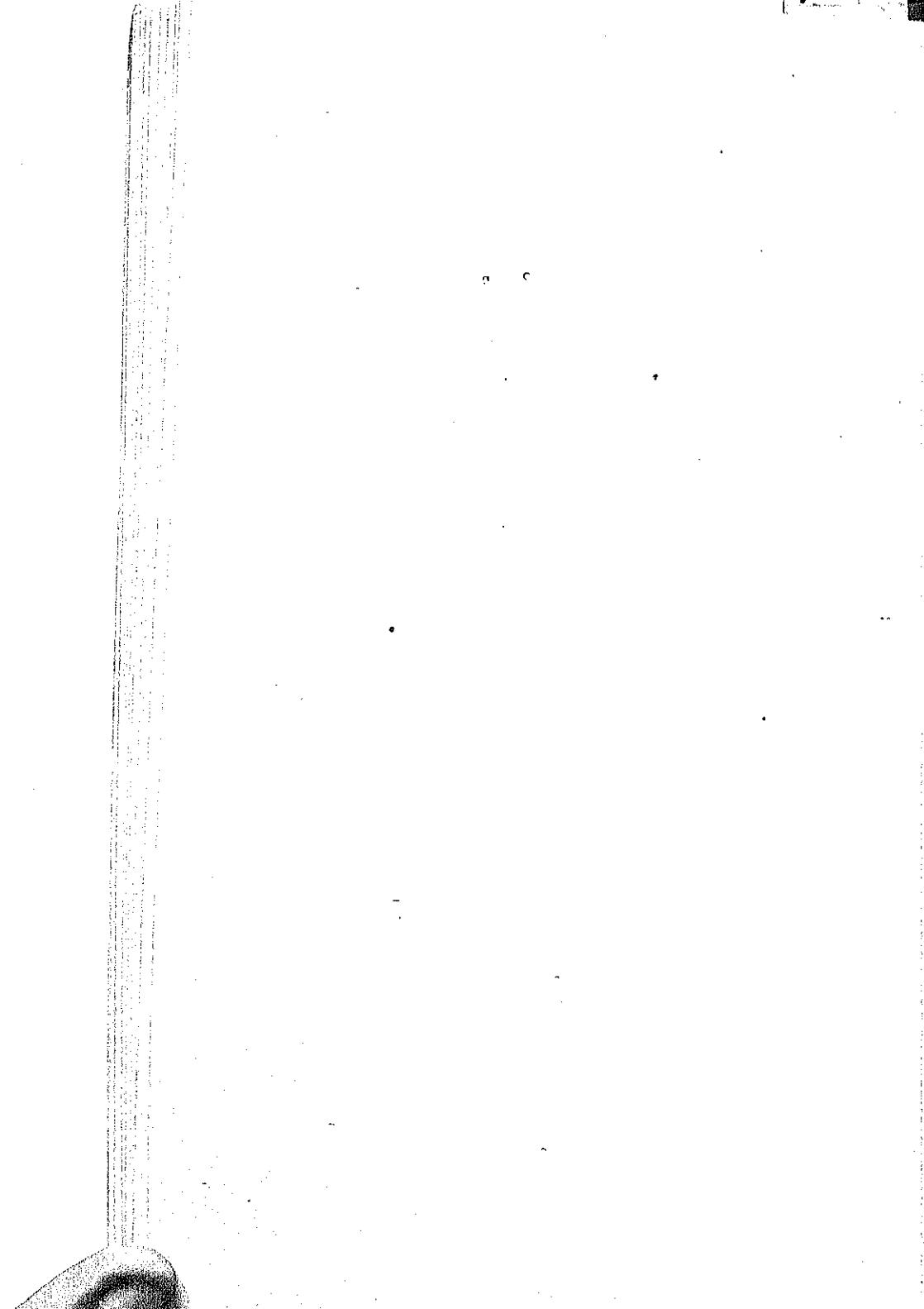
इस प्रकार प्रकृति-वर्णनका वृत्त कालिदासके समयसे पूरा घूम गया है। कालिदास 'प्रकृतिके चौखटेमें मानवी भावनाओंका चित्रण' करते थे; आजका कवि 'समकालीन मानवीय संवेदनाके चौखटेमें प्रकृति'को बैठाता है। और, क्योंकि समकालीन मानवीय संवेदना बहुत दूर तक विज्ञानकी आधुनिक प्रवृत्तिसे मर्यादित हुई है, इसलिए यह भी कहा जा सकता है

कि आजका कवि प्रकृतिको विज्ञानकी अधुनातन अवस्थाके चौखटेमें भी बैठाता है। ऋतका स्थान वैज्ञानिक शोधने लिया है। किन्तु ऋत सनातन और आत्यन्तिक था, वैज्ञानिक शोधके दिङ्मान प्रतिदिन बदलते हैं····फलतः 'प्रकृतिका सान्निध्य' नये कविको पहलेका-सा आश्वस्त भाव नहीं देता, उसकी आस्थाओंको पुष्ट नहीं करता—इसके लिए वह नये प्रतीकोंकी खोज करता है। पर प्रतीकोंकी रचनाके—उनकी अर्थवत्ताके विकास और ह्रास-के—अन्वेषणका क्षेत्र, चेतन और अवचेतनके सम्बन्धोंका क्षेत्र है; जो जोखम-भरा भी है और केवल प्रकृति-काव्यके रूप-परिवर्तनके वर्णनके लिए अनिवार्य भी नहीं है, अतः उसमें भटकना असामयिक होगा।

किन्तु प्रस्तुत संकलन-ग्रन्थके प्रणयनकी मूल प्रेरणाको ध्यानमें रखते हुए कदाचित् इतना कहना उचित होगा कि यदि इस विशेष अर्थमें छाया-वाद वस्तुतः अन्तिम प्रकृति-काव्य था, तो सुमित्रानन्दन पन्त स्वभावतः युग-कवि रहे। अथवा—ऐसा श्लेष इस प्रसंगमें क्षन्तव्य हो तो—यह कहा जाय कि पन्त और 'निराला' प्रकृति-काव्यके अन्तिम युगके युग-कवि रहे। हमारे सौभाग्यसे दोनों ही कवि हमारे मध्यमें हैं, यद्यपि छायावादका युग बीत चुका माना जाता है। किन्तु युग-कविका युगको अतिक्रान्त करना ही स्वाभाविक है। सुमित्रानन्दन पन्तकी अद्यतन रचनाएँ उन प्रकृतियोंके प्रति-कूल नहीं हैं जिनकी हम उनकी रचनाओंसे परवर्ती कालके लिए उद्भावना करते, यह उनकी दृष्टिके खरेपनका ही प्रमाण है।

—सच्चिदानन्द वात्स्यायन

रूपाम्बरा

रूप-श्री

पहला अवतरण

विभावन

अमीर ख़ुसरो [१२५५–१३२४]
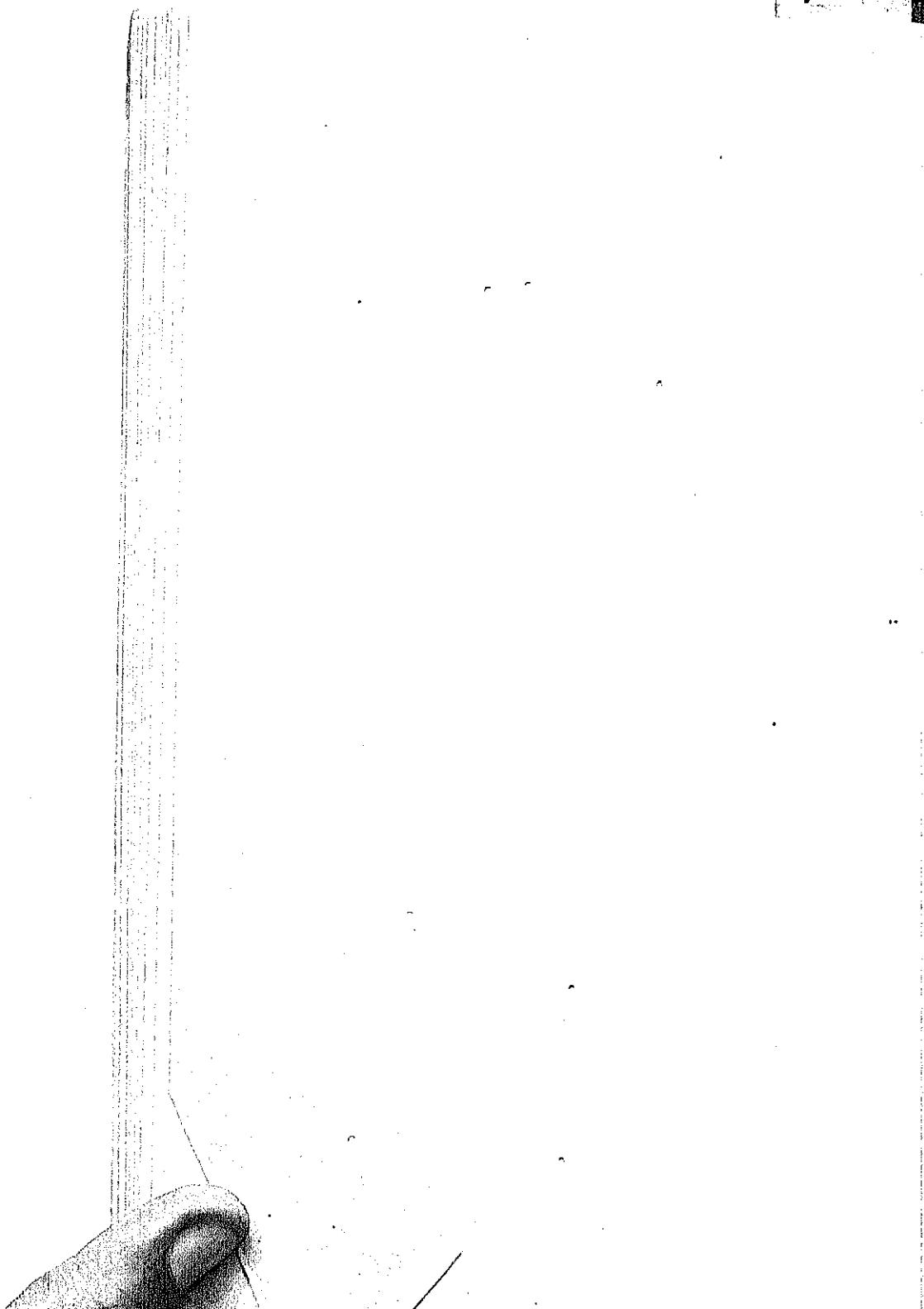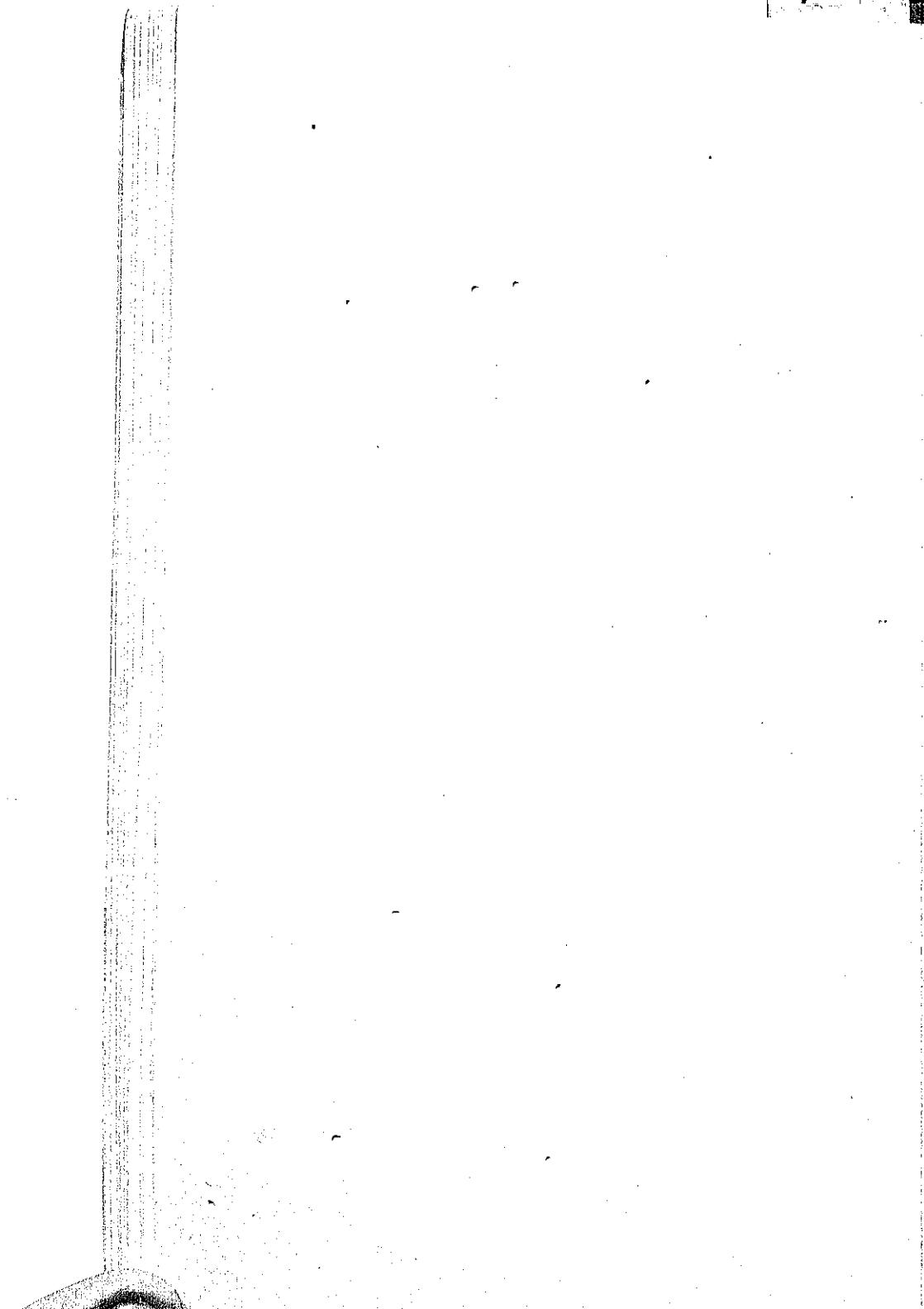
तारों-भरा आकाश

एक थाल मोती से भरा,
सब के सिर पर औंधा धरा,
चारों ओर वह थाली फिरे,
मोती उस से एक न गिरे।

नज़ीर अकबराबादी

[१७३५–१८३०]

बरसात की बहारें

हैं इस हवा में क्या-क्या बरसात की बहारें
सब्ज़ों की लहलहाहट बाग़ात की बहारें
बूँदों की झमझमाहट क़तरात की बहारें
हर बात के तमाशे हर घात की बहारें
क्या-क्या मची हैं यारो बरसात की बहारें।

बादल हवा के ऊपर हो मस्त छा रहे हैं
झड़ियों की मस्तियों से धूमें मचा रहे हैं
पड़ते हैं पानी हर जा जल-थल बना रहे हैं
गुलज़ार भींगते हैं सब्ज़े नहा रहे हैं
क्या-क्या मची हैं यारो बरसातकी बहारें।

मारे हैं मौज डाबर दरिया रमँड रहे हैं
मोर-ओ-पपीहे कोयल क्या-क्या उमँड रहे हैं
झड़ कर रही हैं झड़ियाँ नाले उमँड रहे हैं
बरसे हैं मेंह झड़ाझड़ बादल घुमँड रहे हैं
क्या-क्या मची हैं यारो बरसात की बहारें।

जंगल सब अपने तन पर हरियाली सज रहे हैं
गुल-फूल झाड़-बूटे कर अपनी धज रहे हैं
बिजली चमक रही है बादल गरज रहे हैं
अल्लाह के नक़्क़ारे नौबत के बज रहे हैं
क्या-क्या मची हैं यारो बरसात की बहारें ।

बादल लगा टकोरें नौबत की गत लगावें
झींगुर झंगार अपनी सुरनाइयाँ बजावें
कर शोर मोर-बगले झड़ियों का मुँह हिलावें
पी-पी करें पपीहे मेंढक मलार गावें
क्या-क्या मची हैं यारो बरसात की बहारें ।

हर जा बिछा रहा है सब्ज़ा हरे बिछौने
क़ुदरत के बिछ रहे हैं हर जा हरे बिछौने
जंगलों में हो रहे हैं पैदा हरे बिछौने
बिछवा दिये हैं हक़ ने क्या-क्या हरे बिछौने
क्या-क्या मची हैं यारो बरसात की बहारें ।

सब्ज़ों की लहलहाहट कुछ अब्र की सियाही
और छा रही घटाएँ सुर्ख़ औ सफ़ेद, काही
सब भींगते हैं घर-घर ले माह-ता-ब-माही[1]
ये रंग कौन रंगे तेरे सिवा इलाही
क्या-क्या मची हैं यारो बरसात की बहारें ।

क्या-क्या रखे हैं या रब सामान तेरी क़ुदरत
बदले हैं रंग क्या-क्या हर आन तेरी क़ुदरत

---

१. चाँदसे लेके मछली तक ।

सब मस्त हो रहे हैं पहचान तेरी क़ुदरत
तीतर पुकारते हैं सुबहान तेरी क़ुदरत
क्या-क्या मची हैं यारो बरसात की बहारें ।

कोयल की कूक में भी तेरा ही नाम हैगा
और मोर की रटल में तेरा पयाम हैगा
ये रंग सौ मज़े का जो सुबह-ओ-शाम हैगा
ये और का नहीं है तेरा ही काम हैगा
क्या-क्या मची हैं यारो बरसात की बहारें ।

बोलें बये बटेरें क़ुमरी पुकारे कू-कू
पी-पी करे पपीहा बगले पुकारें तू-तू
क्या हुदहुदों की हक़हक़ क्या फ़ाख़्तों की हू-हू
सब रट रहे हैं तुझ को क्या पंख क्या पखेरू
क्या-क्या मची हैं यारो बरसात की बहारें ।

जो मस्त हों उधर के कर शोर नाचते हैं
प्यारे का नाम ले कर क्या ज़ोर नाचते हैं
बादल हवा से गिर-गिर, घनघोर नाचते हैं
मेंढक उछल रहे हैं और मोर नाचते हैं
क्या-क्या मची हैं यारो बरसात की बहारें ।

['नज़ीरकी बानी' से]

४

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र [१८५०-१८८५]

हरी हुई सब भूमि

बरषा सिर पर आ गयी हरी हुई सब भूमि,
बागों में झूले पड़े, रहे भ्रमण-गण झूमि ।
कर के याद कुटुम्ब की फिरे विदेशी लोग,
बिछड़े प्रीतमवालियों के सिर छाया सोग ।
खोल-खोल छाता चले लोग सड़क के बीच,
कीचड़ में जूते फँसे जैसे अघ में नीच ।

['भारतेन्दु-ग्रन्थावली' से]

नाथूराम शर्मा

[१८५९–१९३२]

काल का वार्षिक विलास

सविता के सब ओर मही माता चकराती है,
घूम-घूम दिन, रात, महीना वर्ष मनाती है,
कल्प लों अन्त न आता है।
हा, इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है।

छोड़ छदन प्राचीन, नये दल वृक्षों ने धारे,
देख विनाश, विकाश, रूप, रूपक न्यारे-न्यारे,
दुरङ्गी चैत दिखाता है,
हा, इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है।

सूख गये सब खेत सुखा दी सारी हरियाली,
गहरी तीत निचोड़ मेदिनी रूखी कर डाली,
धूल वैशाख उड़ाता है।
हा, इस अस्थिर काल-चक्रमें जीवन जाता है।

दामिनि को दमकाय दहाड़े धाराधर धाये,
मारुत ने झकझोर झुकाये झूमे झर लाये।
रुगी आषाढ़ बुझाता है,
हा, इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है।

गुल्म, लता, तरु-पुञ्ज अनूठे दृश्य दिखाते हैं,
बरसे मेह विहंग विलासी मङ्गल गाते हैं,
झुलाता श्रावण भाता है,
हा, इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है।

उपजे जन्तु अनेक झिलारे झील, नदी, नाले,
भेद मिटा दिन-रात एक-से दोनों कर डाले,
मघा भादों बरसाता है,
हा, इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है।

फूल गये सर काँस बुढ़ापा पावस पै छाया,
खिलने लगी कपास शीत का शत्रु हाथ आया,
कृषी को क्वार पकाता है,
हा, इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है।

शुद्ध हुए जल-वायु, खुला आकाश, खिले तारे,
बोये विविध अनाज, उगे अंकुर प्यारे-प्यारे,
दिवाली कातिक लाता है,
हा, इस अस्थिर काल-चक्रमें जीवन जाता है।

शीतल बहे समीर, सभी को शीत सताता है,
हायन-भर का भेद जिसे दैवज्ञ बताता है,
अग्रहायन से पाता है,
हा, इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है।

टपके ओस तुषार पड़े, जम जाता है पानी,
कट-कट बाजे दाँत मरी जल-शूरों की नानी,

पुजारी पोष न न्हाता है,
हा, इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है ।

हुआ मकर का अन्त, घटी सरदी, अम्बा बौरे,
विकसे सुन्दर फूल अरुण, नीले, पीले, धौरे,
माघ मधु को जन्माता है,
हा, इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है ।

खेत पके अब आँख ईश ने उन्नति की खोली,
अन्न मिला भर-पूर प्रजा के मन मानी होली,
फल्गुन फाग खिलाता है,
हा, इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है ।

विधु से इन का अब्द बड़ाई इतनी लेता है,
जिस का तिगुना मान मास पूरा कर देता है,
वही तो लोंद कहाता है,
हा, इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है ।

किया न प्रभु से मेल, करेगा क्या मन के चीते ।
अबलों बावन वर्ष वृथा शंकर तेरे बीते,
न पापों पै पछताता है,
हा, इस अस्थिर काल-चक्र में जीवन जाता है ।

['शंकर-सर्वस्व'से]

बालमुकुन्द गुप्त [१८६५–१९३७]

वसन्तोत्सव

आ आ प्यारी बसन्त सब ऋतुओं में प्यारी,
तेरा शुभागमन सुन फूला केसर क्यारी।
सरसों तुझको देख रही है आँख उठाये,
गेंदे ले-ले फूल खड़े हैं सजे सजाये।
आस कर रहे हैं टेसू तेरे दर्शन की,
फूल-फूल दिखलाते हैं गति अपने मन की।
बौरायी-सी ताक रही है आम की मौरी,
देख रही है तेरी बाट बहोरि-बहोरी।
पेड़ बुलाते हैं तुझको टहनियाँ हिलाके,
बड़े प्रेम से टेर रहे हैं हाथ उठा के।
मारग तकते बेरी के हुए सब फल पीले,
सहते-सहते शीत हुए सब पत्ते ढीले।
नीबू नारंगी है अपनी महक उठाये,
सब अनार हैं कलियों की दुरबीन लगाये।
पत्तों ने गिर-गिर तेरा पाँवड़ा बिछाया,
झाड़-पोंछ वायू ने उसको स्वच्छ बनाया।
फुलसुँघनी की टोली उड़-उड़ डाली-डाली,
झूम रही है मद में तेरे हो मतवाली।
इस प्रकार है तेरे आने की तैयारी।
आ आ प्यारी बसन्त सब ऋतुओं में प्यारी॥

एक समय वह भी था प्यारी जब तू आती,
हर्ष-हास्य, आमोद, मौज-आनन्द बढ़ाती।
होते घर-घर बन-बन मंगलचार बधाई,
राव-चाव से होती थी तेरी पहुनाई।
ठौर-ठौर पर गाये जाते गीत सुहाने,
दूर-दूर जाते तेरा तिहवार मनाने।
कुछ दिन पहिले सारे बन-उद्यान सुधरते,
सुन्दर-सुन्दर कुंज मनोहर ठाँव सँवरते।
लड़की-लड़के दौड़-दौड़ उपवन में जाते,
अच्छे-अच्छे फूल तोड़ते हार बनाते।
क्यारी-क्यारी में फिर जाते मालिन-माली,
चुग-चुग सुन्दर फूल बनाते कितनी डाली।
ठाँव-ठाँव पर बिछती सुन्दर फटिक शिलाएँ,
आने वाले बैठें छबि निरखें सुख पायें।
सखी देखने आतीं उनकी वह सुघराई,
एक दूसरी को देती सानन्द बधाई।
सारी शोभा देख-देखकर घर को फिरतीं,
कह के अपनी बात मुदित सखियों को करतीं।
कहती थीं प्रमुदित हो-हो के सब सुकुमारी,
आ आ प्यारी बसन्त सब ऋतुओं में प्यारी।

सब किसान मिल के अपने खेतों में जा कर,
फूल तोड़ते सरसों के आनन्द मना कर।
बन में होते लड़कों के पाले औ' दंगल,
चढ़ते ढाकों पर और फिरते जंगल-जंगल।
कूद-फाँद कर भाँति-भाँति की लीला करते,
महा-मुदित हो जहाँ-तहाँ स्वच्छन्द विचरते।

कोसों तक पृथ्वी पर रहती सरसों छायी,
देती दृग की पहुँच तलक पीतिमा दिखाई।
सुन्दर-सुन्दर फूल वह उसके चित्त लुभाने,
बीच-बीच में खेत गेहूँ जौ के मनमाने।
वह बबूल की छाया चित को हरने वाली,
वह पीले-पीले फूलों की छटा निराली।
आस-पास पालों के बट-वृक्षों का झूमर,
जिसके नीचे वह गायों-भैसों का पोखर।
ग्वाल-बाल सब जिन के नीचे खेल मचाते,
बूँट चने के लाते, होले करते, खाते।
पशु-गण जिन के तले बैठ के आनँद करते,
पानी पीते, पगुराते, स्वछन्द बिचरते।
पास चने के खेतों में बालक कुछ जाते,
दौड़-दौड़ के सुरुचि साग खाते घर लाते।
आपस में सब करते जाते खिल्ली-ठट्ठा,
वहीं खोल कर खाते, मक्खन-रोटी मट्ठा।
बातें करते कभी बैठ के बाँधे पाली,
साथ-साथ खेतों की करते थे रखवाली
कहते हर्षित सभी देख फूली फुलवारी,
आ आ प्यारी बसन्त सब ऋतुओं में प्यारी।

हाय समय ने एक साथ सब बात मिटायी,
एक चिह्न भी उस का नहिं देता दिखलाई।
कटे-पिटे, मिट गये वह सब ढाकों के जंगल,
जिन में करते थे पशु-पक्षी नितप्रति मंगल।

... ...

पतित-पावनी पूजनीय यमुना की धारा
सदा पापियों का जो करती थी निस्तारा।
अपनी ठौर आज तक वह बहती है निरमल।
बना हुआ है वैसा ही शीतल सुमिष्ट जल॥
विस्तृत रेती अब तक वैसी ही तट पर है,
आस-पास वैसा ही वृक्षों का झूमर है।
छिटकी हुई चाँदनी फैली है वृक्षों पर,
चमक रहे हैं चारु रेणु-कण दृष्टि-दुःखहर।
वही शब्द है अब तक पानी की हलचल का,
बना हुआ है स्वभाव ज्यों का त्यों जल-थल का।
वोही फागन मास और ऋतुराज वही हैं,
होली है और उस का सारा साज वही है।
अहह देखने वाले इस अनुपम शोभा के,
कहाँ गये चल दिये किधर मुँह छिपा-छिपा के।
सुन पड़ती नहिं कहीं आज वह ध्वनि सुखकारी,
आ आ प्यारी बसन्त सब ऋतुओं में प्यारी।

['बालमुकुन्द-ग्रन्थावली' से]

५

'हरिऔध' (अयोध्यासिंह उपाध्याय) [१८६५--१९४१]

वृन्दावन-शोभा

हरीतिमा का सु-विशाल-सिन्धु-सा
मनोज्ञता की रमणीय-भूमि-सा,
विचित्रता का शुभ सिद्ध-पीठ-सा
प्रशान्त-वृन्दावन दर्शनीय था ।

कलोलकारी खग-वृन्द-कूजिता
सदैव सानन्द मिलिन्द-गुंजिता,
रहीं सुकुंजें वन में विराजिता
प्रफुल्लिता पल्लविता ललामयी ।

प्रशस्त-शाखा न समान हस्त के
प्रसारिता थी उपपत्ति के विना,
प्रलुब्ध थी पादप को बना रही
लता-समालिंगन-लाभ-लालसा ।

कई निराले तरु चारु-अंक में
लुभावने-लोहित पत्र थे लसे,
सदैव जो थे करते विवर्द्धिता
स्व-लालिमा से वन की ललामता ।

प्रसून-शोभी तरु-पुंज अंक में
लसी ललामा लतिका प्रफुल्लिता,

जहाँ तहाँ थी वन में विराजिता
स्मिता-समालिंगित कामिनी-समा ।

सुदूलिता थी अति कान्त भाव से
कहीं स-एला लतिका लवंग की,
कहीं लसी थी महि मंजु अंक में
सुलालिता-सी नव माधवी-लता ।

समीर संचालित मन्द-मन्द हो
कहीं दलों से करता सु-केलि था,
प्रसून-वर्षा-रत था, कहीं हिला
स-पुष्प-शाखा सु-लता-प्रफुल्लिता ।

कहीं उठाता बहु-मंजु वीचियाँ
कहीं खिलाता कलिका प्रसून की,
बड़े अनूठेपन साथ पास जा
कहीं हिलाता कमनीय-कंज था ।

अश्वेत, ऊदे, अरुणाभ, बैंगनी
हरे, अबीरी, सित, पीत, सन्दली,
विचित्र-वेशी बहु अन्य वर्ण के
विहंग से थी लसिता वनस्थली ।

विभिन्न-आभा रत रंग-रूप के
विहंगमों का दल व्योम-पन्थ हो,
स-मोद आता जब था दिगन्त से
विशेष होता वन का विनोद था ।

स-मोद जाते जब एक पेड़ से
द्वितीय को, तो करते विमुग्ध थे,
कल्लोल में हो रत मंजु बोलते
विहंग नाना रमणीय रंग के ।

छटामयी कान्तिमती मनोहरा
सु-चन्द्रिका से निज नील-पुच्छ के,
सदा बनाता वन को मनोज्ञ था
कलापियों का कुल केकिनी लिये ।

कहीं शुकों का दल बैठ पेड़ की
फली सु-शाखा पर केलि-मत्त हो,
अनेक मीठे फल खा, कदंश को
गिरा रहा भू पर था प्रफुल्ल हो ।

कहीं कपोती स्व-कपोत को लिये
विनोदिता हो करती विहार थी,
कहीं सुनाती निज-कन्त साथ थी
स्व-काकली को कल-कंठ कोकिला ।

कहीं महा-प्रेमिक था पपीहरा
कथा-मयी थी नव शारिका कहीं,
कहीं कला-लोलुप थी चकोरिका
ललामता-आलय लाल थे कहीं ।

महा-कदाकार बड़े-भयावने
सुहावने सुन्दरता-निकेत-से,
वनस्थली में पशु-वृन्द थे घने
अनेक लीला-मय औ' लुभावने ।

नितान्त-सारल्य-मयी सुमूर्त्ति में
मिली हुई कोमलता सु-लोमता,
किसे नहीं थी करती विमोहिता
सदंगता-सुन्दरता कुरंग की ।

असेत-आँखें खनि भूरि भाव की
सुगीत न्यारी गति की मनोज्ञता,

मनोहरा थी मृग-गात-माधुरी
सुधारियों अंकित नातिपीतता ।

असेत-रक्तानन-वान ऊधमी
प्रलम्ब-लांगूल विभिन्न-लोम के,
कहीं महा-चंचल क्रूर कौशली
असंख्य शाखामृग का समूह था ।

कहीं गठीले अरने अनेक थे
स-शंक भूरे शशकादि थे कहीं,
बड़े-घने निर्जन वन्य भूमि में
विचित्र-चीते चल-चक्षु थे कहीं ।

सुहावने पीवर-ग्रीव साहसी
प्रमत्त-गामी पृथुलांग-गौरवी,
वनस्थली-मध्य विशाल बैल थे
बड़े बली उन्नतवक्ष विक्रमी ।

दयावती, पुण्य-भरी, पयोमयी,
सु-आनना सौम्य-दृगी, समोदरा,
वनान्त में थी सुरभी सुशोभिता
सधी सवत्सा सरलातिसुन्दरी ।

अतीव प्यारे मृदुता-सुमूर्त्ति-से
नितान्त-भोले, चपलाङ्ग, ऊधमी,
वनान्त में थे बहु वत्स कूदते
लुभावने, कोमल-काय कौतुकी ।

['प्रिय-प्रवास' से]

'पूर्ण' (राय देवीप्रसाद) [१८६५-१९१५]

उपवन-वर्णन

लम्बा-चौड़ा था अनेक योजन आराम,
अगणित कुंजें थीं अन्तर्गत शोभा-धाम ।
उनमें ही से एक कुंज में लगा पथिक करने आराम,
प्राकृत छवि से था वह आवृत आगे-पीछे, दक्षिण-वाम ।

सुन्दर वृक्ष तुंगवर उसमें थे छविसार,
बकुल, अशोक, चिनार, बेल, कचनार, अनार,
चन्दन, चम्पा, सेमल, किंशुक, खैर, कनैर, सरो, सहकार,
तूत, लवंग, कदम्ब, आँवला, सेव, नाशपाती, खम्भार ।

पीपल, पनस, उदुम्बर, जम्बू, बट, जम्भीर,
बेर, बहेर, करंज, निम्ब, निम्बू, अंजीर ।
अगर, तगर, खर्जूर, ताल, कर्पूर, नारियल, शाल, तमाल,
पारिजात, अर्जुन, अगस्त, आदिक समस्त तरु शस्त रसाल ।

ललित लहर लेती थीं तरलित उनके तीर,
लतावल्लिकावली मल्लिका, मृदु वानीर ।
विष्णुप्रिया, मोगरा, चाँदनी, सोमलता, देवना, गुलनार,
जाही, जूही, एला, केला, कनकबेल, सुकुमार ।

गुललाला, गुलमेंहदी, शब्बो, गुल अब्बास,
गेंदा, गुलदाउदी, मेंहदी, कुन्द सुबास ।

तुलसी, सूरजमुखी, निवारी, गुललाला, गुलाब, जसवन्त,
विचल नमित हो अमित डालियाँ करती थीं रसवन्त दिगन्त।

हरियाली से सुखमाशाली थी अति कान्ति,
गुणसम्पन्नों को भी पन्नों की थी भ्रान्ति।
नीले-पीले, लाल-सेत सुन्दर फूलों का था सामान,
नीलम पुष्पराज मणि-माणिक-मुक्तों का था पूरा भान।

हिलते थे वृक्षों के पल्लव रुचिर अधीर,
लगती थी आगत शरीर में सुखद समीर।
मानो करके कर सहस्र निज, सेवा-आतुर चातुर बाग,
व्यजनक्रिया से मनरंजन कर व्यंजन करता था अनुराग।

भौंरों की थीं गुंजन-झनकार भरपूर,
करते थे ध्वनि चातक, कोकिल, कीर, मयूर,
बुलबुल, चक्रवाक, पारावत, मैना, मुनिया, लाल, निदान,
तम्बूरे पर मधुर स्वरों में अतिथि-मान-सूचक था गान।

थी उपवन की पवन परिमलित, मिलित पराग,
पुष्पसार से सिंचित था उसका प्रतिभाग।
अनायास ही बन जाता था अर्घ्यदान का पूर्ण विधान,
बनता क्यों न? सदा जब सज्जित था जल-चन्दन का सामान।

तरु-शाखाएँ फल-गुच्छों का पाकर भार,
झुक-झुक भूमि छुए लेती थीं बारम्बार।
मानो उस उपवन के किंकर समझ अतिथि-सेवा की नीति,
रखते थे फल-फूल सामने निज पवित्र उपहार सप्रीति।

['वसन्त-वियोग' से]

अमल्तास

छबीले अमल्तास तरु-जाल, तुम्हारे दरसीले अभिराम,
रंगीले पीले सुमन-समूह, धूप काले में भी छवि-धाम,
देख, कुछ रोचक नये विचार, हृदय में उदय हुए दो-चार,
उन्हीं का है यह आविर्भाव, रसिक-प्रति प्रीति-पूर्ण उपहार।

वाटिका-विपिन-नासिका-रूप सघन किंशुक-प्रसून परिवार,
कमल, गेंदा, गुलाब, कचनार, विमल सेमल, अनार, गुलनार,
लालिमा से जिन की यह भूमि, बनी अनुराग-समुद्र अपार,
उन्हें यह भीष्म ग्रीष्म की आज, किये देती है ज्वाला क्षार।

सेवती, जाही, जुही, अगस्त, चाँदनी, कुमुद, चमेली-फूल,
मोगरा, बेला, विशद कनैर, निवारी फुलवारी-छवि-मूल,
सभी की परिमल निर्मल कान्ति, हुई निर्मूल मलिनता संग,
जगत के पादप सभी निदान, किये इस आतप ने बदरंग।

धन्य पर तुझको बारम्बार, चिरंजीवी द्रुम सुखमागार,
चंडकर-किरण प्रचंड अखंड, हुई तव हेतु चन्द्रिका-सार,
नहीं यद्यपि सिंचन-सुविधान, अकिंचन के धन हैं भगवन्त,
पीत फूलों से तेरे, मीत, बीत कर दरसै पुनः बसन्त।

देख तव वैभव, द्रुम-कुल सन्त! विचारा उसका सुखद निदान,
करे जो विषम काल को मन्द, गया उस सामग्री पर ध्यान,
रँगा निज प्रभु ऋतुपति के संग, द्रुमोंमें अमलतास तू भक्त,
इसी कारण निदाघ प्रतिकूल, दहन में तेरे रहा अशक्त।

['पूर्ण-संग्रह' से]

६

जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

[१८७५–१९४०]

वसन्त-वर्णन

शेष हुआ जाड़े का मौसम, आया है अब समय बसन्ती।
मगन हुए सारे नर-नारी, लता, वृक्ष, पशु, पक्षी कोमल।
सारी दुनिया मस्त हुई है, मानो सब ने छानी गहरी।
हुआ प्रकृति का रूप निराला, आहा! क्या अच्छी है शोभा।
है आकाश स्वच्छ अति सुन्दर, सूरज भी अब तेज़ हुआ है।
नहिं सरदी नहिं गरमी भारी, ओ हो! क्या प्यारी हैं रातें।
बौरे आम अधिक सुखदायी, कुहू-कुहू कोयल करती है।
मन्द-मन्द वायू है चलती, लिये गन्ध अति भीनी-भीनी।
फूले सेमर-ढाक विपिन में, है नहिं इन में गन्ध तनिक भी।
पर केवल है रंगत अच्छी, नाम बड़े और दर्शन छोटे।
रूप देख आये बहु पक्षी, पर लौटे अपना मुँह लेकर।
इस से कवि कहता है भाई, जो कुछ चमके सो नहिं सोना।
गेंदा और गुलाब, गुलतुरी, हुए सकल इक साथ प्रफुल्लित।
गुंजत मधुकर मधु की खातिर, भूमि हुई गुलशन का टुकड़ा।
रहे वृक्ष जो लुण्डे-मुण्डे, उनमें भी अब पत्ते निकले।

['कविता-कौमुदी' से]

मुंशी अजमेरी

[१८८३-१९३७]

माली

ओ उपवन के माली !
तेरे श्रम-सीकर-सिंचन से है इस की हरियाली ।
बंझर भूमि तोड़ कर तूने कर दी जोत बहाली,
आयी ईति-भीति जब जो भी, सो तुरन्त सब टाली ।
चौरस क़ितै, पट्टियाँ चौड़ी, रविशें निपट निराली,
ऋतु-ऋतु के अनुकूल रुपायी बीच-बीच विटपाली ।
कभी हाथ में खुरपी तेरे, कैंची कभी कुदाली,
तारतम्य में तत्परता की तूने हद कर डाली ।
काट झाड़-झंखाड़, झुकाये ऊँचे तरु बलशाली,
छाँट फूल-फल वाले पौधे, रुचि से की रखवाली ।
उनके प्रति पल्लव से प्रकटी तेरे रंग की लाली ।
सुफल फले, सत्वर झुक झूली फूली डाली-डाली ।
'कुऊ' कूजने लगीं कोयलें हो मद से मतवाली,
मधुप गूँजने लगे मुदित हो, सुधा सुरभि ने ढाली ।
तब तूने सर्वस्व सार से सज पूजा की थाली,
इष्ट देवता को अर्पण की फूल फलों की डाली ।

['द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' से]

रूपनारायण पाण्डेय [१८८४–१९५८]

दलित कुसुम

अहह ! अधम आँधी, आ गयी तू कहाँ से ?
प्रलय-घन-घटा-सी छा गयी तू कहाँ से ?
पर-दुख-सुख तू ने, हा ! न देखा न भाला,
कुसुम अधखिला ही, हाय ! यों तोड़ डाला।

तड़प-तड़प माली अश्रु-धारा बहाता,
मलिन मलिनिया का दुःख देखा न जाता।
निठुर ! फल मिला क्या व्यर्थ पीड़ा दिये से ?
इस नवलतिका की गोद सूनी किये से !

यह कुसुम अभी तो डालियों में धरा था,
अगणित अभिलाषा और आशा-भरा था।
दलित कर इसे तू काल, क्या पा गया रे !
कण-भर तुझ में क्या हा ! नहीं है दया रे !

सहृदय जन के जो कण्ठ का हार होता,
मुदित मधुकरी का जीवनाधार होता,
वह कुसुम रँगीला धूल में जा पड़ा है—
नियति ! नियम तेरा भी बड़ा ही कड़ा है।

['कविता-कौमुदी' से]

हेमन्त

हेमन्त में महिष-अश्व-वराह-जाति;
होती प्रसन्न अति ही गज-काक पाँति।
पुन्नाग, लोध्र तरु ये नित फूलते हैं;
भौंरे सदैव इन ऊपर झूलते हैं।

वियोगिनी वाम महा मलीन;
होतीं दिशाएँ सब दीप्तिहीन।
अम्भोज सारे बिन पत्र क्षीण;
भुजंग होते बिन वीर्य्य दीन।

हुआ हिमाच्छादित सूर्यमण्डल;
समीर सीरी बहती अखण्डल।
प्रियंगु के पेड़ प्रफुल्ल हो चले;
हरे-हरे अंकुर खेत में भले।

आनन्द देती न समीर शीत;
हुए सभी हैं उससे विभीत।
न चाँदनी मंजुल है सुहाती;
नदी, नदों की लहरी न भाती।

सौभाग्य से जो पतियुक्त बाला;
देता कसाला उन को न पाला।
माला नहीं वे अब धारती हैं;
विश्लेष की भीति विचारती हैं।

अच्छे दुशाले सित, पीत, काले;
हैं ओढ़ते जो बहु-वित्त-वाले।
तौ भी नहीं बन्द अमन्द सी-सी;
हेमन्त में है कँपती बतीसी।

['सरस्वती' १९०५ से]

प्रवाह

ठहर, तनिक ठहर, आह ! ओ प्रवाह मेरे,
आप मैं बहूँ न कहीं संग-संग तेरे।
कूड़ा-कर्कट समेत,
बह चला स्वयं निकेत,
डूबे खलिहान-खेत, बहे गाँव खेरे ?
ठहर, तनिक ठहर, आह ! ओ प्रवाह मेरे।
पृथ्वीतल पाट-पाट,
पृथुल शैल काट-काट,
घाट-घाट बाट-बाट तू न चाट ले रे,
ठहर, तनिक ठहर, आह ! ओ प्रवाह मेरे।

सुन कर निर्मम निनाद,
पा कर विषमय विषाद,
नभ ने भी निर्विवाद, आज कान फेरे,
ठहर, तनिक ठहर, आह ! ओ प्रवाह मेरे।
आशा थी हरा-हरा,
होगा भव भरा-भरा,
किन्तु प्रलय-मग्न धरा अब न और एरे,
ठहर, तनिक ठहर, आह ! ओ प्रवाह मेरे।
पकड़े कर कौन आज,
एक वही राजराज,
किन्तु अहंकार लाज, कौन उसे टेरे,
ठहर, तनिक ठहर, आह ! ओ प्रवाह मेरे।

['झंकार' से]

पंचवटी-प्रसंग

चारु चन्द्र की चंचल किरणें
खेल रही हैं जल-थल में,
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है
अवनि और अम्बर-तल में।
पुलक प्रकट करती है धरती
हरित तृणों की नोकों से,
मानो झीम रहे हैं तरु भी
मन्द पवन के झोकों से।

क्या ही स्वच्छ चाँदनी है यह
है क्या ही निस्तब्ध निशा;
है स्वच्छन्द-सुमन्द गन्धवह
निरानन्द है कौन दिशा ?
बन्द नहीं, अब भी चलते हैं
नियति-नटी के कार्य-कलाप,
पर कितने एकान्त भाव से
कितने शान्त और चुप-चाप ।

है बिखेर देती वसुन्धरा
मोती, सब के सोने पर,
रवि बटोर लेता है उन को
सदा सबेरा होने पर ।
और विरागदायिनी अपनी
सन्ध्या को दे जाता है,
शून्य श्याम तनु जिस से उस का
नया रूप झलकाता है ।

सरल तरल जिन तुहिन-कणों से
हँसती हर्षित होती है,
अति आत्मीया प्रकृति हमारे
साथ उन्हीं से रोती है ।
अनजानी भूलों पर भी वह
अदय दण्ड तो देती है,
पर बूढ़ों को भी बच्चों-सा
सदय भाव से सेती है ।

गोदावरी नदी का तट वह
ताल दे रहा है अब भी,
चंचल जल कल-कल कर मानो
तान ले रहा है अब भी।
नाच रहे हैं अब भी पत्ते
मन-से सुमन महकते हैं,
चन्द्र और नक्षत्र ललक कर
लालच-भरे लहकते हैं।

आँखों के आगे हरियाली
रहती है हर घड़ी यहाँ,
जहाँ-तहाँ झाड़ी में झिरती
है झरनों की झड़ी यहाँ।
वन की एक-एक हिमकणिका
जैसी सरस और शुचि है,
क्या सौ-सौ नागरिक जनों की
वैसी विमल रम्य रुचि है ?

['पंचवटी' से]

७

लोचनप्रसाद पाण्डेय [१८८६–१९५९]

वन-हरिण

वन एक बड़ा ही मनोहर था, रमणीयता का शुचि आकर-सा;
सुख-शान्ति के साज से पूरा सजा, वह सोहता था कुसुमाकर-सा।

... ...

वन में शुक, मोर, कपोत कहीं, तरुओं पर प्रेम से डोलते थे;
निज लाड़लियोंको रिझाते हुए, कभी नाचते थे, कभी बोलते थे।
पिक, चातक, मैना, मनोहर बोल से, शर्करा कर्ण में घोलते थे;
फिरते हुए साथ में बच्चे अहा! उन के बहुभाँति कलोलते थे।
करि केहरि मुग्ध हुए मन में, बन में कहीं प्रेम से घूमते थे,
फल-फूल फले-खिले थे सब ओर, झुके तरु भूमि को चूमते थे।
झरने झरते करते रव थे, कहीं खेत पके हुए झूमते थे;
वन-शोभा मृगी-मृग वे लखते, चखते तृण यों सुख लूटते थे।
कहीं गोचर भूमि में साँड सुडौल, भरे अभिमान सुहा रहे थे;
कहीं ढोरों को साथ में ले के अहीर, मनोहर वेणु बजा रहे थे।

... ...

चढ़ जाते पहाड़ों में जा के कभी, कभी झाड़ों के नीचे फिरें बिचरें;
कभी कोमल पत्तियाँ खाया करें, कभी मिष्ट हरी-हरी घास चरें।

सरिता जल में प्रतिबिम्ब लखें, निज शुद्ध कहीं जल पान करें;
कहीं मुग्ध हो निर्झर झर्झर से, तरु-कुंज में जा तप-ताप हरें।
रहती जहाँ शाल, रसाल, तमाल के, पादपों की अति छाया घनी;
चर के तृण आते थके वहाँ, बैठते थे मृग औ' उसकी घरनी।
पगुराते हुए दृग मूँदे हुए, वे मिटाते थकावट थे अपनी;
खुर से कभी कान खुजाते कहीं, सिर सींघ पै धारते थे टहनी।

['मृगी-दुःख-मोचन' से]

रामनरेश त्रिपाठी

[ज० १८८९]

हरियाली

हरियाली में भाँति-भाँति के राशि-राशि हैं फूल विमिश्रित,
गिरि-समूह के अन्तराल में विस्तृत वनस्थली है चित्रित।
भ्रम होता है रंग-बिरंगी हरित धरा को देख यकायक,
पुरुष-प्रिया की सूख रही हैं ये मानो साड़ियाँ असंख्यक।

मैदानों में दूर-दूर तक कितना आकर्षण है संचित,
नहीं दृष्टि में भर सकता है इतना है सौन्दर्य संकुलित।
सन्ध्या आने ही वाली है, कैसा है यह समय मनोहर,
हिम-शिखरों को सजा रहे हैं सविता स्वर्ण-मुकुट पहना कर।

इस विशाल तरुवर चिनार की अति शीतल छाया सुखदायक,
चरण चूमने को आतुर-सी पहुँची है गिरि की काया तक।
हिम-शृंगों को छोड़ रही हैं दिनकर की किरनें क्षण-क्षण पर,
तिरती हैं वे घन-नौका पर नभ-सागर में, विविध रूप धर।

मुदित सहस्र-रश्मि ने पकड़ा चिर-सुहागिनी सन्ध्या का कर,
लौट रहा है मानो चेतन जगत, अंशुधर को पहुँचा कर।
बच्चों के अनुराग-डोर से आकर्षित हो खग-पतंग-चय,
वेगवन्त हैं नीड़-दिशा में विविध-रूप-ध्वनि-रंग-ढंग-मय।

ढोरों के पीछे चरवाहे घर की ओर विपिन के पथ पर,
देते हैं सूचना साँझ की मुरली के मधुमय स्वर में भर।
विरह-भार से नत मल्लाह-गण चले गुणवती नौका ले कर,
कोई गुणवन्ती इनको भी खींच रही है क्या पद-पद पर ?

ये अनुराग-भरे धरणीधर ग्राम-निकर ये शान्ति-समन्वित,
प्रिय की सुधि-सी ये सरिताएँ ये कानन-कान्तार सुसज्जित।
हरित भूमि के मध्य विमल पथ पुष्पित लता प्रसून मनोरम,
बाट जोहते हैं सुख ले कर घर के बाहर मूक मित्र-सम।

यहाँ नहीं है राग-द्वेष से हृदय तरंगित होने का भय,
यहाँ कपट-व्यवहार नहीं है और नहीं जन-जन पर संशय।
यहाँ नहीं मन में जगती है प्रतिहिंसा की वृत्ति भयावह,
केवल है सौन्दर्य, शान्ति, सुख, कैसी है रमणीय जगह यह !

['स्वप्न' से]

गोपालशरण सिंह

[ज० १८९१]

सागरिका

सागर के उर पर नाच-नाच, करती हैं लहरें मधुर गान।
जगती के मन को खींच-खींच,
निज छवि के रस से सींच-सींच,
जल-कन्याएँ भोली अजान,
सागर के उर पर नाच-नाच, करती हैं लहरें मधुर गान।

प्रातः समीर से हो अधीर,
छू कर पल-पल उल्लसित तीर,
कुसुमावलि-सी पुलकित महान,
सागर के उर पर नाच-नाच, करती हैं लहरें मधुर गान।

सन्ध्या से पाकर रुचिर रंग,
करती-सी शत सुर-चाप भंग,
हिलते तरु-नव-दल के समान,
सागर के उर पर नाच-नाच, करती हैं लहरें मधुर गान।

करतल-गत कर नभ की विभूति,
पा कर शशिसे सुषमानुभूति,
तारावलि-सी मृदु दीप्तिमान,
सागर के उर पर नाच-नाच, करती हैं लहरें मधुर गान।

तन पर शोभित नीला दुकूल,
हैं छिपे हृदय में भाव-फूल,
आकर्षित करती हुई ध्यान,
सागर के उर पर नाच-नाच, करती हैं लहरें मधुर गान।

हैं कभी मुदित, हैं कभी खिन्न,
हैं कभी मिली, हैं कभी भिन्न,
हैं एक सूत्र में बँधे प्राण,
सागर के उर पर नाच-नाच, करती हैं लहरें मधुर गान।

['सागरिका' से]

पदुमलाल पुन्नालाल बक्शी

[ज० १८९४]

ग्राम-गौरव

यही है वह विशाल वटवृक्ष,
यही है माता जी का धाम ।
यही है सरिता, गिरि, उद्यान,
यही है मेरा जन्म-ग्राम ।
यहीं मैंने पाया है जन्म,
बनी इस की रज से यह देह ।
और फिर अन्तकाल में स्थान
यही देगा मुझ को सस्नेह ।
शक्ति जो करती है संहार,
विभव जो है विलास का द्वार ।
कीर्ति जो करती विस्मय-मुग्ध,
यही तो है महिमा का सार ।
न है वह विभव, न है वह शक्ति,
तुम्हारा कहाँ विश्व में मान ?
तब भला, हे मेरे प्रिय ग्राम,
करूँ मैं क्या महिमा स्तव-गान ?
न तो विद्या का है आवास,
न वैभव का ही लीला-धाम ।
दीन कृषकों की आश्रय-भूमि,
क्षुद्र है मेरा जन्म-ग्राम ।

क्षुद्र यद्यपि उस का विस्तार,
क्षुद्र सरिता, गिरि-वन, उद्यान,
क्षुद्र है उस का श्री-भाण्डार,
क्षुद्र जन का वह जन्म-स्थान।
किन्तु जननी क्या होती क्षुद्र,
क्षुद्र क्या उस का हृदय उदार ?
जीर्ण हो उस का पर्णकुटीर,
रिक्त क्या उस का स्नेहागार ?
न हो गगनस्पर्शी प्रासाद,
न हो जन में उस का स्तव गान।
नहीं हो सकती गौरव-हीन,
कभी जननी या जन्म-स्थान।

... ...

क्षुद्र हूँ, क्षुद्रों का स्तव-गान,
यहाँ करता हूँ मैं तो आज।
क्षुद्र में भी है कहीं महत्व,
देखता क्या यह विज्ञ-समाज ?
गगनमें हैं कितने नक्षत्र,
सभी में है अपूर्व आलोक।
किन्तु हरता है केवल दीप,
कुटी का तम, दीनों का शोक।

... ...

स्नेह की मन्दाकिनी अलक्ष्य,
कर चुकी यहाँ तीर्थ की सृष्टि।
विश्व भी हो जाता कृत-कृत्य,
यदि कभी उस पर पड़ती दृष्टि।
हो चुके कितने ही कुल-रत्न,
किन्तु उन की सुधि किस को आज ?

८

शौर्य की लुप्त यहीं है मूर्ति,
    धैर्य का गुप्त यहीं गिरिराज।
सुना करता हूँ कथा विचित्र,
    हुए कैसे-कैसे भूपाल !
स्वल्प था उन का भू-विस्तार,
    किन्तु था उन का हृदय विशाल।
यहीं ले जन्म, यहीं पा मृत्यु,
    यहीं कर सुख-दुख का उपभोग,
यहीं वे छोड़ गये निज कीर्ति,
    भले ही भूल जायँ अब लोग।

... ...

हुआ करता था पुलकित ग्राम,
    उमड़ जाता था हर्ष-प्रवाह।
किसी भी गृह का पावन कृत्य,
    सभी को देता था उत्साह।
नहीं था उच्च-नीच का भेद,
    सभी के लिए खुला था द्वार।
सभी रहते उत्सव में लीन,
    कौन किस का करता सत्कार ?
एक के दुख में सभी विषण्ण,
    एक के सुख में सुखी समस्त।
एक के संकट में सब-त्रस्त,
    एक के कार्यों में सब व्यस्त।
न था वैभव का मिथ्या दम्भ,
    शक्ति का था न यहाँ सन्त्रास।
प्रेम का था सचमुच साम्राज्य,
    सभी का था सब पर विश्वास।

प्रजा-नृप की वह प्रीति-प्रतीति,
स्वामि-सेवक का आदर-मान,
करेगा कोई क्या विश्वास,
स्नेह का वह आदान-प्रदान।
कौन था अधिप, कौन था भृत्य ?
ग्राम था एक बृहत् परिवार।
सभी थे स्नेह-सूत्र में बद्ध,
सभी का था सब पर अधिकार।
काल की है कुछ ऐसी चाल,
बदलता रहता है संसार।
और अब तुम भी, मेरे ग्राम !
कर रहे नव पथ को स्वीकार।
हो रही है विलास की वृद्धि,
सभ्यता का हो रहा प्रचार।
ज्ञान की बढ़ती जाती ज्योति,
सरलता का होता संहार।
कहाँ अब हैं वे निश्छल भाव,
कहाँ अब है उदार वह रीति ?
कहाँ अब है सौजन्य अपार,
कहाँ वह भ्रातृ-भाव, वह प्रीति ?
धर्म हो गया अन्ध-विश्वास,
कपट का विस्तृत हुआ वितान।
पतन का है यह गर्त विशाल,
या यही है उन्नति-सोपान ?

['शतदल' से]

'हितैषी' (जगदम्बाप्रसाद मिश्र) [ज० १८९५]

प्रभात

निशि-सुन्दरी थी अति लज्जित-सी,
मुख रक्तिम-सा हुआ जा रहा था,
पर वृन्द फनिन्द का-सा घन कुन्तल,
अम्बर में लहरा रहा था ।
मुख खोल के बोलना चाहता था,
पै सरोज खड़ा सकुचा रहा था;
जब मन्द मरीची लिये मुखचन्द
प्रतीची दिशा में छिपा रहा था ।

उमड़ी पड़ती थीं उरोज उठाये-
हुए नदियाँ लहराती हुई,
जब वायु से मल्लिका डोलती थी,
कटि कुंचित को लचकाती हुई ।
लिपटी तरुओं को न त्यागती थीं
जब वल्लरियाँ मदमाती हुई—
कलियाँ निकलीं मुसकाती हुई,
विहगावलियाँ चलीं गाती हुई ।

['कल्लोलिनी' से]

वर्षा-नर्तकी

तान वितान दिया नभ ने हरियाली ने चादर चारु बिछायी,
हाथ में ली चपला ने मशाल है झिल्लियों ने मिल बीन बजायी।
वारिदों ने है मृदङ्ग पै थाप दी, चातकियों ने मलार है गायी,
विश्व के प्रांगण में सज के ऋतु पावस नर्तकी नाचती आयी।

['कल्लोलिनी' से]

सियारामशरण गुप्त

[ज० १८९५]

किरण

ज्ञात नहीं जानें किस द्वार से
कौन से प्रकार से,
मेरे गृहकक्ष में,
दुस्तर-तिमिरदुर्ग-दुर्गम-विपक्ष में—
उज्ज्वल प्रभामयी
एकाएक कोमल किरण एक आ गयी।
बीच से अँधेरे के हुए दो टूक :
विस्मय-विमुग्ध
मेरा मन
पा गया अनन्त धन।

रश्मि वह सूक्ष्माकार,
कज्जल के कूट में उसी प्रकार,
जौलों रही उज्ज्वल बनी रही;
ओठों पर हास रहा हँसता हुआ वही।
किन्तु उसी हास-सी,
वीचि के विलास-सी,
विद्युत-प्रवाहमयी
जैसी वह आयी बस वैसी ही चली गयी।

एक ही निमेष में
मेरे मरुदेश में
आ कर सुधा की धार अमृत पिला गयी,
और फिर देखते ही देखते बिला गयी।
कोई दिव्य देवी दयादीप लिये जाती थी;
मार्ग में सुवर्ण-रश्मि-राशि बरसाती थी।
उस में-से एक यह रश्मि आ पड़ी थी यहाँ,
किन्तु वह रहती भला कहाँ,

मेरा घर सूना था,
अगम अरण्य का नमूना था।
रोकता उसे मैं यहाँ हाय ! किस मुख से,
बाँधता उसे मैं किस भाँति भव-दुख से ?
आयी वह, है क्या यही बात कम :
एक ही निमेष वह मेरे एक जन्म-सम
मेरे मनोदोल पै अनन्त-काल झूलेगा;
सुकृति समान वह मुझ को न भूलेगा।

['विषाद'से]

'लली' (तोरन देवी शुक्ल) [१८९६-]

कलिका

नव कलिका तुम कब विकसी थीं, इस का मुझ को ज्ञान नहीं।
हुई समर्पित श्री-चरणों पर कब इस का कुछ भान नहीं।
हृदय-संगिनी सरल मधुरता में देखा अभिमान नहीं।
सच है गुण का यौवन मद का दुनिया में सम्मान नहीं।
इसी हेतु सब श्रेष्ठ गुणों से पूरित तुमको अपनाया।
नव कलिका जब तुम को देखा तभी पूर्ण विकसित पाया।
नन्दन-कानन में सुरभित होने की तुमको चाह नहीं।
हृदय वेध कर हृदय-स्थल तक जाने को है दाह नहीं।
मन्त्र-मुग्ध-से जग-जन होवें, उस की कुछ परवाह नहीं।
इन पवित्र मुसकानों में है, छिपी हुई वह आह नहीं।
प्रेममयी, इस अखिल विश्व को, अचल प्रेम से अपनाना।
यदि मिल जावें युगल चरण वह तुम उन पर बलि हो जाना।

['जागृति' से]

प्रकृति

छटा और ही भाँति की देखते हैं,
जहाँ दृष्टि हैं डालते फेर के मुँह ।
कहीं छन्द सुनते कहीं रेखते हैं,
कहीं कोकिलों की सुरीली 'कुहू-कुहू' ।
कहीं आम बौरें, कहीं डालियों के
तले फूल आ के गिरे बीच थाले ।
रखे हैं मनो टोकरे मालियों के
इकट्ठे जहाँ भौंर से भीर वाले ।
कहीं व्योम में साँझ की लालिमा है,
कभी स्वच्छ है दृष्टि आकाश आता ।
कभी रात्रि में मेघ की कालिमा है,
कभी चाँदनी देख जी है लुभाता ।
कभी इन्द्र का चाप है सप्त-रंगी,
जहाँ ज्योति के संग बूँदे घनी हैं ।
कुसुम्भी, हरा, लाल, नीला; नरंगी,
कहीं पीत शोभा कहीं बैंगनी है ।
कहीं हेल से जीव हैं दृष्टि आते,
कहीं सूक्ष्म कीटादि की पंक्तियाँ हैं ।
उन्हें देख कर चित्त हैं चित्त खाते,
उन्हें देखने की नहीं शक्तियाँ हैं ।

६

कहीं पर्वतों से नदी बह रही है,
कहीं वाटिका में बनी स्वच्छ नहरें।
कहीं प्राकृतिक कीर्ति को कह रही हैं,
छटाधीश वारीश की बंकु लहरें।
कहीं पेड़ की पत्तियाँ हिल रही हैं,
कहीं भूमि पर घास ही छा रही है।
सुगन्धें कहीं वायु में मिल रही हैं,
कहीं सारिका प्रेम से गा रही हैं।

कहीं पर्वतों की छटा है निराली,
जहाँ वृक्ष के वृन्द छाये घने हैं।
लगी एक से एक प्रत्येक डाली,
मनो पान्थ के हेतु तम्बू तने हैं।
कहीं दौड़ते झाड़ियों बीच हरने,
लिये मोद से शावकों को भगे हैं।
कहीं भूधरों से झरें रम्य झरने,
अहा! दृश्य कैसे अनूठे लगे हैं।

कहीं खेत के खेत लहरा रहे हैं,
महा मोद में हैं कृपीकार सारे।
उन्हें देख कर मूँछ फहरा रहे हैं,
सदा घूमते काँध पै लट्ठ धारे।
अनोखी कला सच्चिदानन्द की है,
उसी की सभी वस्तु में एक सत्ता।
अहो कौमुदी यह उसी चन्द की है,
रचा है जिन्होंने लता-पेड़-पत्ता।
जहाँ ध्यान देते हैं चारों दिशा में,
पड़े दीख संसार नियमानुसारे।
सदा चन्द आनन्ददाता दिशा में,
सदा सूर्य अपना उजेला पसारे।

यथाकाल ही फूल भी फूलते हैं,
फलों से लदे वृक्ष त्यों सोहते हैं।
नहीं कौन सौन्दर्य पर भूलते हैं,
नहीं कौन के चित्त ये मोहते हैं।
अचम्भा सभी वस्तु संसार की है,
वृथा दर्प विज्ञान भी ठानता है।
जगन्नाथ ने सृष्टि विस्तार की है,
वही विश्व के मर्म को जानता है।

['कविता-कौमुदी' से]

बलदेवप्रसाद मिश्र

[ज० १८९८]

पुण्य-प्रभात

आज पुण्य-प्रभात है री ।

जीर्ण सर के पंक में भी स्फुट हुआ जलजात है री ।
        आज सूखे वृक्ष पर है वल्लरी विलसी रसाला,
        आज मरु में भी सुधा-द्रव छा गया नव कान्ति वाला ।
बोल कोकिल ! क्यों समझती इस समय भी रात है री ।
        ओस क्यों ? नभ रो रहा है, बह चली करुणाश्रु सीमा,
        यह विशाल हृदय, इसे भी डँस रही है नियति भीमा ।
किन्तु उस के आँसुओं से सज्ज अवनी–गात है री ।
        दुःख-सुख के पंख पाकर उड़ चले पक्षी नये-से,
        थम रहे हैं स्वर हृदय में जो विदित थे बह गये-से;
रात बीती प्रात आया, चक्र का विनिपात है री ॥

['जीवन-संगीत' से]

'भक्त' (गुरुभक्त सिंह)

[ज० १८९९]

पवन

किस के स्वागत में पेड़ों ने अपना शीश झुकाया है,
सोती हरियाली को किस ने हिला-हिला चौंकाया है ?
उस के आँचल के मुक्तों को किस ने यों बिखराया है ?
जल में लहरें उठती हैं, क्यों तट से वह टकराया है ?

क्या किस थल से बड़े वेग से आता है करता सन-सन ?
प्रकृति साँस, जीवन प्रवाह है, यह है प्रखर प्रभात-पवन,
अरे पवन ! किस रस में सन कर सन-सन भागा जाता है,
सुन, सुन, क्यों आकुल है इतना, कभी चैन भी पाता है ?

किस से मिलने की ठानी है, तू विह्वल हो कहाँ चला,
लील-लोल लहर द्वारा क्यों दिखलाता है विपुल कला,
ज्यों सम्मिलन समय पर प्रेमी विवश बना अकुलाता है,
थोड़ा भी विलम्ब ज्यों उस को प्रेमातुर कर पाता है;

ऊँचे-नीचे गिरते-पड़ते पत्थर हो या पानी हो;
तन-मन की सुध भूल पहुँचने की ही जिस ने ठानी हो,
खिंचा हुआ प्रिय प्रेम-डोर से जो चक्कर खाता-खाता,
पल को युग-सम जान मनोगति जैसा है उड़ता जाता;

उसी की तरह आज वायु तू किस से मिलने जाता है,
बिरह-व्यथा-व्याकुल है क्या जो हा ! हा ! शब्द सुनाता है,
दूत बना तो नहीं किसी का प्रेम-सँदेशा लाने को,
सुख-संवाद मिलन का दे कर लोचन-सलिल सुखाने को,

क्या तू जाता है कलियों को छेड़-छेड़ चिटकाने को ?
क्या तू जाता है फूलों के पीत पराग उड़ाने को ?
क्या तू जाता है छिप-छिप कर सुमन सुगन्ध चुराने को ?
क्या तू जाता है खेतों में लोट-लोट सो जाने को ?

पल्लव-पट में अलि-भय से क्यों अपना फूल छिपाता है ?
नव विकसित फूलों से क्या तू उसे उड़ाने आता है ?
जो चंचल तितली को फूलों पै बैठी तू पा लेगा,
पुहुप-पराग-पीत तो उस की आँखों में क्या डालेगा ?

सोये हुए कामिनी के केशों को क्यों उलझाया है ?
काले नागों से उलझा तो तूने काल जगाया है,
उसने खूब डसा भी होता कितनी ही लहरें आतीं,
ठण्डा भी तो तू हो जाता, चली जो न चालें जातीं :

बाल-बाल तू बच आया छू बाल-बाल को छल कर के,
भागा है तू किस रमणी के अंचल को चंचल कर के,
इसे हँसाया, उसे फँसाया, किसी वृक्ष को दिया ढकेल,
इसे रुलाया, उसे सुलाया, क्या अद्भुत है तेरा खेल !

क्या आनन्द तुझे मिलता है विटप विशाल गिराने में ?
क्या आनन्द तुझे मिलता है घन को हवा बताने में ?
क्या आनन्द तुझे मिलता है लतिका के लहराने में ?
क्या आनन्द तुझे मिलता है चिड़ियों के चहकाने में ?

पर में अपना शीश छिपा कर सोती थी जो बेचारी,
डाल हिला कर, बाल फुला कर उन चिड़ियों की नींद हरी :
सघन वनों में जहाँ जनों की छाया तक है नहीं पड़ी,
जहाँ गहनतम कुंजों में है लतापुंजता आन अड़ी;

वहाँ परस्पर आलिंगन कर है पेड़ों की पंक्ति खड़ी,
एक दूसरे की शाखाएँ, लतिकाओं से हैं जकड़ी,
कहीं घास है, कहीं बाँस है, कहीं भाड़ है, कहीं जड़ी,
सूर्य्य-किरण पत्ते हटते ही जहाँ झाँकती घड़ी-घड़ी :

पत्राच्छादित वर वितान मण्डप रच कर है तना हुआ;
कुसुमावलि तारावलि द्वारा है वह सुन्दर बना हुआ;
मधु-मक्खी जो रस को ले कर सघन कुंज से जाती है,
अन्धकार से भीड़-भाड़ में कई जगह टकराती है;

मानव कर से सूर्य्य-किरण से हुई नहीं जो जूठी है,
जिस की अनुपम लाल चूनरी कोरी और अनूठी है,
बन जयमाला उस के कर की जो मोहनी वधूटी है,
जो न विकम्पित नवल करों से किसी गले में छूटी है;

ऐसी कोमल कुसुम कली से भरी हुई थी वन की गोद,
विटप-सुरक्षित प्रासादों में होता था आमोद-प्रमोद :
इन मनमोहन मृदु कलियों पर जब तू झपटा, अरे पवन !
तेरी देख महान् धृष्टता काँप गया तब सारा वन ;

प्रहरी विटप खड़े थे जितने वे थे लकड़ी लिये हुए,
और बहुत छोटे पेड़ों को अपने पीछे किये हुए,
सब के सब झुक पड़े तुझी पर सब ने तुझ पर वार किया;
कुछ ने फल गोले बरसाये, कुछ ने सबल प्रहार किया;

तन कर तुझ पर स-रिस सिरिस ने कितने कुसुम-बान छोड़े,
साखू ने कितने ही लट्ठे तेरे सर पर ही तोड़े;
कितने तरुवर धीर न धर कर तेरे ऊपर टूट पड़े,
पा कर तुझे पकड़ने के हित ताड़-ताड़ कर रहे खड़े;

कितने पत्ते पीछा कर कर तेरे पीछे रहे पड़े,
कितने बार-बार गिर-गिर कर उठ-उठ तुझ से बहुत लड़े,
सब कुछ सहसा गिरता-पड़ता अभिलाषा में दुःख को भूल,
कुसुम-कामिनी के अन्तःपुर में तू पहुँचा मन में फूल :

अब क्या था, प्रसून-विटपों ने जब तेरा देखा आना,
तब कुछ काँप उठे, कुछ दहले, चाहा झुक लुक-छिप जाना,
नन्हीं-नन्हीं कच्ची कलियाँ पाकर के पत्तों की आड़,
चिमट-चिमट कर लिपट रह गयीं डालों के जमघट को फाड़,

कैसा छिपना तू ने तो उन सब को ही झकझोर दिया,
किसी को झटका दिया ज़ोर से और किसी को तोड़ लिया,
इधर-उधर जो रहे जलाशय बीचि-व्याज के भौंह सिकोड़,
ताल ठोंक कर तीर दिखा कर लड़ने को करते थे होड़;

चाहा तुझ को घाट उतारें उठतीं लहरों की तलवार,
तुझे जान से हाथ धुलावे उस की पानी वाली धार;
आँख लाल-पीली कर तुझ को कमल लाल हो तकता था,
अपने दल का उस को बल था दल कर तुझे उमगता था :

इस प्रकार सब ओर अनवरत होता देख घोर संग्राम,
बुरा किया तू ने समीर जो छल से लेना चाहा काम,
काना-फूसी इधर-उधर कर हिला दिया दो डालों को,
आपस में ही रगड़ पड़ गयी समझ न पाया चालों को;

आग उठी जब फूँक-फूँक तब इधर-उधर भी बढ़ा दिया,
हवा बता कर हवा बाँध कर कहाँ न पावक लगा दिया,
सारे वन में आग लग गयी जलने लगे वनस्पति सब,
बह-बह कर के वाह-वाह कर पवन देखता था करतब;

तड़क-तड़क कर जल-जल गिरने लगे गगन-भेदी तरुवर,
वहाँ लाल अंगारे दहके जहाँ खिले थे फूल सुघर;
अहह ! समीर तुझे उन फूलों पर भी आयी नहीं दया,
जिन को तू चित से चाहे था जिन को था चूमने गया;

संरक्षक पालक प्रिय पेड़ों को जब तू ने नाश किया,
उन्हें वैर-साधन हित तू ने आग लगा जब जला दिया;
मृदुल कुसुम-लतिकाओं ने तब जीवन की आशाएँ त्याग,
उन्हीं चिताओं पर गिर-गिर कर तन में स्वयं लगायी आग;

अग्नि ! अनेक देवियों को तू ने कर दिव्य दिखाया है,
मल कर दूर अंक ने तेरे सोना खरा बनाया है;
जहाँ-तहाँ अब राख पड़ी है कुछ उड़ते हैं अंगारे,
धूएँ के काले अकास में चमक रहे मानो तारे;

किस ने उलट दिया यह परदा कर अद्भुत पट-परिवर्तन,
यह उत्पात खेल है तेरा, ऐरे परम कठोर पवन ।

['कुसुम-कुञ्ज' से]

१०

देहात का दृश्य

अरहर कल्लों से भरी हुई फलियों से झुकती जाती है,
उस शोभासागर में कमला ही कमला बस लहराती है ।
सरसों दानों की लड़ियों से दोहरी-सी होती जाती है,
भूषण का भार सँभाल नहीं सकती है कटि बलखाती है ।
है चोटी उस की हिरनखुरी के फूलों से गुँथ कर सुन्दर,
अन-आमन्त्रित आ पोलंगा है इंगित करता हिल-हिल कर ।
हैं मसें भींगती गेहूँ की तरुणाई फूटी आती है,
यौवन में माती मटरबेलि अलियों से आँख लड़ाती है ।
लोने-लोने वे घने चने क्या बने-बने इठलाते हैं,
हौले-हौले होली गा-गा घुँघरू पर ताल बजाते हैं ।
हैं जलाशयों के ढालू भीटों पर शोभित तृण शालाएँ,
जिन में तप करती कनक-वरण हो जाग बेलि-अहिबालाएँ ।
हैं कन्द धरा में दाब कोष ऊपर तक्षक बन झूम रहे,
अलसी के नील गगन में मधुकर दृग-तारों से घूम रहे ।
मेथी में थी जो विचर रही तितली सो सोये में सोयी,
उस की सुगन्ध-मादकता में सुध-बुध खो देते सब कोई ।

['नूरजहाँ' से]

'अनूप' (अनूप शर्मा)

[ज० १९००]

कपिलवस्तु में श्रावण

सुहावना सावन मास मंजु था,
प्रशस्त था शीतल गन्धवाह भी,
पयोद-माला नभ में घिरी हुई,
प्रसार व्यापे निविडान्धकार का ।

हुई तृणों से हरिता वसुन्धरा,
यथार्थ-नाम्नी सरसा रसा लसी,
इतस्ततः थीं फिरतीं वनान्त में
मनोरमा रक्तिम इन्द्रगोपिका ।

कलापियों के सँग में कलापिनी,
अलापती थीं अति कान्त भाव से,
तृणाकुला भू पर मन्द-चारिणी,
विनोदिता बर्हिणि नृत्य-मग्न थीं ।

सकम्प-शीर्षा, हरिता, मनोहरा,
महामनोज्ञा, अतिरम्यपल्लवा,
सुगन्ध-युक्ता, बृहती सुखावहा,
कदम्ब की थी अटवी सु-पुष्पिता ।

अजस्र धाराधर-अंक-वर्तिनी,
महा प्रतप्ता, करकावगाहिनी,
विलासिनी, सम्यक अट्टहासिनी,
प्रकाशती थी अति-मंजु दामिनी ।

अखंड धारा बरसी पयोद से,
निदाघ-तप्ता महि तृप्त हो गयी,
परन्तु बैठा तरु पै अतृप्त ही,
पुकारता चातक था कि 'पी कहाँ ?'

खिली हुई थी वन-मध्य कामिनी,
सु-पुष्पिता थी अति मंजु केतकी,
कली खुली थी रजनी-प्रकाश की,
प्रफुल्ल था कैरव का वितान भी ।

निशीथ में, वासर में अजस्र ही,
प्रमत्त झिल्ली झनकार-लीन थे,
तड़ाग के या सरि के समीप में,
सु-तार था निःस्वन भेक-यूथ का ।

कुमार अत्यन्त विमुग्ध-चित्त हो,
विराजते थे अति उच्च गेह पै,
यशोधरा-संग महान मोद में,
विलोकते थे ऋतु की मनोज्ञता ।

['सिद्धार्थ' से]

होमवती

[१९०२–१९५१]

वसन्त

लगी भ्रमरों की भारी भीर,
सुनायी पिक ने मादक तान ।
नवेली वसुधा ने फिर आज,
किया निज प्रियतम का आह्वान ।

निशा ने गूँथे कुंचित केश,
तारिकाओं ने भर दी माँग ।
ज्योत्स्ना से धो कर मुखचन्द्र,
चढ़ाया रवि ने अचल सुहाग ।

उषा ने प्राची दिशि से झाँक,
सँवारा मंजुल भाल विशाल ।
थाम किरणों की स्वर्णिम सींक,
लगायी बेंदी लाल गुलाल ।

सरस सरसों ने झुक-झुक झूम,
उढ़ाया सुभग बसन्ती चीर ।
निरख छवि होकर आत्म-विभोर,
निछावर होता मलय-समीर ।

स्वास से कण-कण सुरभित आज,
किया सुमनों ने शुभ-शृङ्गार ।
प्रफुल्लित द्रुम-तरुवर पर बेलि,
झुकी फिर नव-यौवन के भार ।

भरे बैठी है मुक्ता-थाल,
पिरोने को लड़ियाँ नीहार ।
गुलाबों की गर्वीली बाल,
बाँधती फिरतीं बन्दनवार ।

चूमते पदतल बौर रसाल,
महावर दी कुंकुम ने घोल ।
बिछे उपवन में हरित दुकूल,
निहारा कलियों ने दृग खोल ।

बकुल ने पूरे मंगल-चौक,
वनस्पति शुचि चन्दन से लीप ।
आरती करते किसलय-कंज,
जला किंशुक के स्वर्ण-प्रदीप ।

लिये कर गेंदे का मृदु-हार,
और फूलों में सरल परागें ।
मुदित मन ऋतुपति ने भर दिया,
प्रकृति के आँचल में अनुराग ।

['उद्गार' से]

'वियोगी' (मोहनलाल महतो)

[ज० १९०२]

सूर्योदय

फैल गयी लाली रम्य पूरब क्षितिज पर
जागे खग नीड़ों में सजग जग हो गया।
गन्धवह आया मन्द-मन्द इठलाता-सा,
मधु-गन्ध लोभी मधुकर पद्‌म-कोश से
जाग कर वन-कलियों की चले खोज में।
झड़के पराग लघु पंखों से द्विरेफ के
शान्त सरसी के स्वच्छ जल पर छा गया।
अन्धकार-गज भागा गहन विपिन में
दिनपति प्रकटा सरोष मृगराज-सा,
केसर-सी किरणें विकीर्ण हुईं नभ में।
भाग के मृगांक छिपा अस्ताचल ओट में
भय था कि मृगचिह्न देख कहीं केसरी
टूटे मत—भाग गयी रजनी किराती-सी,
आँचल में भर के नखत-गुंजा भय से।

['आर्यावर्त' से]

भगवतीचरण वर्मा

[ज० १९०३]

माधव-प्रात

आज माधव का सुनहला प्रात है,
आज विस्मृत का मृदुल आघात है,
आज अलसित और मादकता-भरे
सुखद सपनों से शिथिल यह गात है,

मानिनी हँस कर हृदय को खोल दो—
आज तो तुम प्यार से कुछ बोल दो।

आज सौरभ में भरा उच्छ्वास है,
आज कम्पित भ्रमित-सा वातास है,
आज शतदल पर मुदित-सा झूलता
कर रहा अठखेलियाँ हिम-हास है,

लाज की सीमा प्रिये, तुम तोड़ दो—
आज मिल लो, मान करना छोड़ दो।

आज मधुकर कर रहा मधुपान है,
आज कलिका दे रही रसदान है,
आज बौरों पर बिकल बौरी हुई
कोकिला करती प्रणय का गान है,

यह हृदय की भेंट है, स्वीकार हो —
आज यौवन का सुमुखि, अभिसार हो।

आज नयनों में भरा उत्साह है,
आज उर में एक पुलकित चाह है,
आज श्वासों में उमड़ कर बह रहा
प्रेम का स्वच्छन्द मुक्त प्रवाह है,
डूब जावें देवि, हम तुम एक हो।
आज मनसिज का प्रथम अभिषेक हो।

['मधुकण' से]

११

गोपालसिंह नेपाली

[ज० १९०६]

इस रिमझिम में चाँद हँसा है

खिड़की खोल जगत को देखो, बाहर-भीतर घनावरण है,
शीतल है वातास, द्रवित है दिशा, छटा यह निरावरण है,
मेघ-यान चल रहे झूम कर शैल-शिखर पर प्रथम चरण है,
बूँद-बूँद बन छहर रहा वह जीवन का जो जन्म-मरण है।
जो सागर के अतल-वितल में गर्जन-तर्जन है, हलचल है,
वही ज्वार है उठा यहाँ पर शिखर-शिखर में चहल-पहल है।

फुहियों में पत्तियाँ नहायीं, आज पाँव तक भीगे तरुवर,
उछल शिखर से शिखर पवन भी झूल रहा तरु की बाँहों पर,
निद्रा भंग, दामिनी चौंकी, झलक उठे अभिराम सरोवर,
घर के, वन के अगल-बगल से छलक पड़े जल-स्रोत मचल कर।
हेर रहे छवि श्यामल घन ये पावस के दिन सुधा पिला कर;
जगा रहा है जड़ को चेतन जग-जीवन में बुला-जिला कर।

जागो मेरे प्राण, विश्व की छटा निहारो, भोर हुई है,
नभ के नीचे मोती चुन-चुन नन्हीं दूब किशोर हुई है;
प्रेम-नेम-मतवाली सरिता क्रम की और कठोर हुई है,
फूट-फूट बूँदों से श्यामा रिम-झिम चारों ओर हुई है।
निर्झर, झर-झर मंगल गाओ, आज गर्जना घोर हुई है;
छवि की उमड़-घुमड़ में कवि की तृषित मानसी मोर हुई है।

दूर-दूर से आते हैं घन लिपट शैल में छा जाते हैं,
मानव की ध्वनि सुन कर पल में गली-गली में मँडराते हैं;
जग से मधुर पुरातन परिचय, श्याम घरों में घुस आते हैं,
है ऐसी ही कथा मनोहर, उन्हें देख गिरिवर गाते हैं।
ममता का यह भींगा आंचल हम जग में फिर कब पाते हैं;
अश्रु छोड़ मानस को समझा, इसी लिए विरही गाते हैं।

सुख-दुख के मृदु-कटु अनुभव को उठो हृदय, फुहियों से धो लो,
तुम्हें बुलाने आया सावन, चलो-चलो अब बन्धन खोलो;
पवन चला, पथ में हैं नदियाँ, उछल साथ में तुम भी हो लो,
प्रेम-पर्व में जगा पपीहा, तुम कल्याणी वाणी बोलो।
आज दिवस कलरव बन आया केलि बनी यह खड़ी निशा है;
हेर-हेर अनुपम बूँदों को जगी झड़ी में दिशा-दिशा है।

बूँद-बूँद बन उतर रही है यह मेरी कल्पना मनोहर,
घटा नहीं, प्रेमी मानस में प्रेम बस रहा उमड़-घुमड़ कर,
भ्रान्ति-भ्रान्ति यह नहीं दामिनी, याद हुई बातें अवसर पर,
तर्जन नहीं आज गूँजा है जड जग का गूँगा अभ्यन्तर।
इतने ऊँचे शैल-शिखर पर कब से मूसलधार झड़ी है;
सूखे वसन, हिया भींगा है, इस की चिन्ता हमें पड़ी है।

बोल सरोवर, इस पावस में, आज तुम्हारा कवि क्या गाये,
कह दे शृङ्ग, सरस रुचि अपनी, निर्झर वह क्या तान सुनाये,
बाँह उठा कर मिलो शाल, ये दूर देश से झोंके आये,
रही झड़ी की बात, कठिन यह, कौन हठीली को समझाये।
अजब शोख यह बूँदा-बूँदी, पत्तों में घनश्याम बसा है,
झाँकें इन बूँदों से तारे, इस रिमझिम में चाँद हँसा है।

['नीलिमा' से]

'मिलिन्द' (जगन्नाथप्रसाद) [ज० १९०७]

निर्झर

छोटा-सा निर्झर यह !
निर्जन में झरता है।
एकाकी श्रोता यह
अपने ही स्वर का।
ज्ञात नहीं इस को यह
कि जो सतत जीवन का
करता यह रहता है
निर्मल उत्सर्ग सहज,
क्या उस का होता है,
क्या उस से बनता है,
नदी, नद, सरोवर या
रत्नाकर महासिन्धु,
अथवा वह धारा, जो
असफल हो मरु ही में
बीच ही में हो जाती
लुप्त शुष्क शून्यता में।
सीखा है निर्झर यह
आत्म-त्याग निःस्पृह ही।
प्रतिफल के पाने की

भावना से, कामना से,
मुक्त हृदय इस का है,
वासना से मुक्त जैसे
अन्तर हो बालिका का,
शुचि, सरल कुमारिका का।

[२]

महलों के स्वर्ण मुकुट
मूढ़ता के वैभव-से
हिलते थे नृत्य, गीत,
अभिनय की महफिल में,
करते थे कलाकार गुणियों को
रत्नहार अर्पित जब,
मोहमयी रजनी में
होते थे मुखरित जब
सरगम स्वर, रुनझुनगति,
तब निर्झर नृत्य, गीत
दोनों का पाता था
स्वाभाविक रस अपने
मधुर-मधुर झरने में
झर-झर-झर, झर-झर-झर।
जनगायक, जनकवि, जब
लोकनृत्य, अभिनय के
कलाकार जनयुग में
शतसहस्र जनता के
सम्मेलन, परिषद् में
करते अभिव्यक्ति आज
चरण-क्षेप, मुद्रा, स्वर

आदि की कलाओं की,
पाते हैं वाह-वाह,
अभिनन्दन, पुरस्कार,
स्वागत, प्रमाणपत्र,
निर्झर यह झूम-झूम,
चूम-चूम मुग्ध भाव अपना ही,
आश्रय, प्रशस्ति और प्रोत्साहन
पाने की
आशा के बिना, सतत,
नाचता है, गाता है,
पाता उसी में है
आत्मानन्द,
ब्रह्मानन्द जिसे देख
खर्व हुआ जाता है ।

[२]

शैल-गर्भ कहता है
ओ निर्झर, तू मेरी कविता है ।
अन्तर की विश्व-व्यथा-ऊष्मा ने
कर दिया विदीर्ण जब
ऊपर का आवरण कठोरतम,
तब तेरा सृजन हुआ ।
संयम की पृष्ठभूमि,
साधना की, तप की, है
तेरा आधार, अजय,
अक्षय तू, अविरत तू,
इसी लिए तेरा है
यही स्वप्न,

यही लक्ष्य,
कल्पना है एक यही–
झरता ही जावे तू,
बहता ही जावे तू,
जगती से अपने लिए
कुछ भी न चाहे तू।

[४]

सागर जब रोता है–
'मैं विशाल, मैं विराट्
रत्नाकर मैं महान्,
वैभव की खान, किन्तु,
व्यर्थ हूँ, तृषातुर को,
खारा हूँ, खारा हूँ,
आडम्बर मेरा सब
बना अभिशाप मुझे',
गाता है तब निर्झर–––
'छोटा हूँ, किन्तु, नहीं
लज्जित मैं लघुता पर।
रत्न नहीं, पर स्वर है,
विभव नहीं नृत्य मधुर,
एकाकी हूँ मैं, पर
नहीं स्वार्थसाधक हूँ,
लेने का नाम नहीं लेता हूँ,
मैं केवल देता हूँ।
निस्संबल, किन्तु सरल, निर्मल हूँ :
प्यास के सताये हुए पन्थी को
भूतल के अमृत सदृश

शीतल, प्रिय, मधुर, स्वच्छ
जल का जब दान कभी देता हूँ,
तब खारे सागर की
महिमा की ईर्ष्या का
पात्र बना निर्जन में
मन्दस्मित-रश्मियाँ बिखेरता हूँ।
भर आता हृदय इसी गौरव से
कि मैं नहीं वैभव का स्वामी हूँ,
महत् नहीं, मैं लघु हूँ,
एकाकी, सीमित हूँ।
निर्झर हूँ,
निर्जन में झरता हूँ।'

['मुक्तिका' से]

'प्रभात' (केदारनाथ मिश्र) [ज० १९०७]

चित्रकूट-प्रसंग

चित्रकूट, सब जिसे मानते स्वर्ग-खण्ड भू-तलका,
चित्रित है सौन्दर्य जहाँ नभ, जल, थल, अनिल, अनल का ।
जहाँ उतर अनजान देश से बसती मंगल-बेला,
एक बार उस तपस्थली में लगा अनोखा मेला ।
प्रकृति कुंज में गूँज रही थी उस दिन बीन निराली,
कण-कण कल उल्लास-पूर्ण चल किरण-किरण मतवाली ।
प्रिया-खरीखी मुग्ध प्रिया थी भर दृग में आकर्षण,
प्रियवर्षी उस ओर रूप का करती थी मधु-वर्षण ।
मद्यनिपीता मद्यवासिनी मधुबहुला अतिमुक्ता,
सकुच-सकुच मुख खोल रही थी नव-यौवन-संयुक्ता ।
नववल्लभ, रंजक, हरिचन्दन मद्यामोद विपर्णक,
हेमपुष्प, अश्वत्थ, हरिप्रिय, शुकतरु, विल्व विनम्रक ।
शीर्ण-पर्ण सुकुमार मधुद्रव, वृत्त-पुष्प मधुगुंजन,
मधु-पालिका वनद्रुम मोहक वन-लक्ष्मी वन-चन्दन ।
वर्ण-वर्ण में ले सुवर्ण खिल उठे मधुर-उत्सव-से,
मदगन्धा के रक्त-राग से राशि-राशि वैभव से ।
बेसुध थी दक्षिणावर्त्त की अपनी स्वर-लहरी में,
वीणा-सी बज उठी वन-श्री मंजुल लता-घरों में ।

१२

मृदुल मालती हेमयूथिका बहुगन्धा मदमाती,
चारु रक्तवृन्ता दलपुष्पी अपने में न समाती ।
कामरूपिणी कनक-मल्लिका जाने या अनजाने,
चपल बाल यौवन की मदिरा लगी सजल ढुलकाने ।
प्रिय-सन्देश लगा चुपके-से प्रिय-सन्देश वितरने,
लगा साथ वन-हास विश्व को मधुर हास से भरने ।
शंख, रेणुका, विद्रुमलतिका, गन्धकुटी की ज्वाला,
उमड़ पड़ी कस्तूरी फेनिल कर यौवन का प्याला ।

['कैकेयी'से]

श्यामनारायण पाण्डेय

[ज० १९१०]

भील-वन
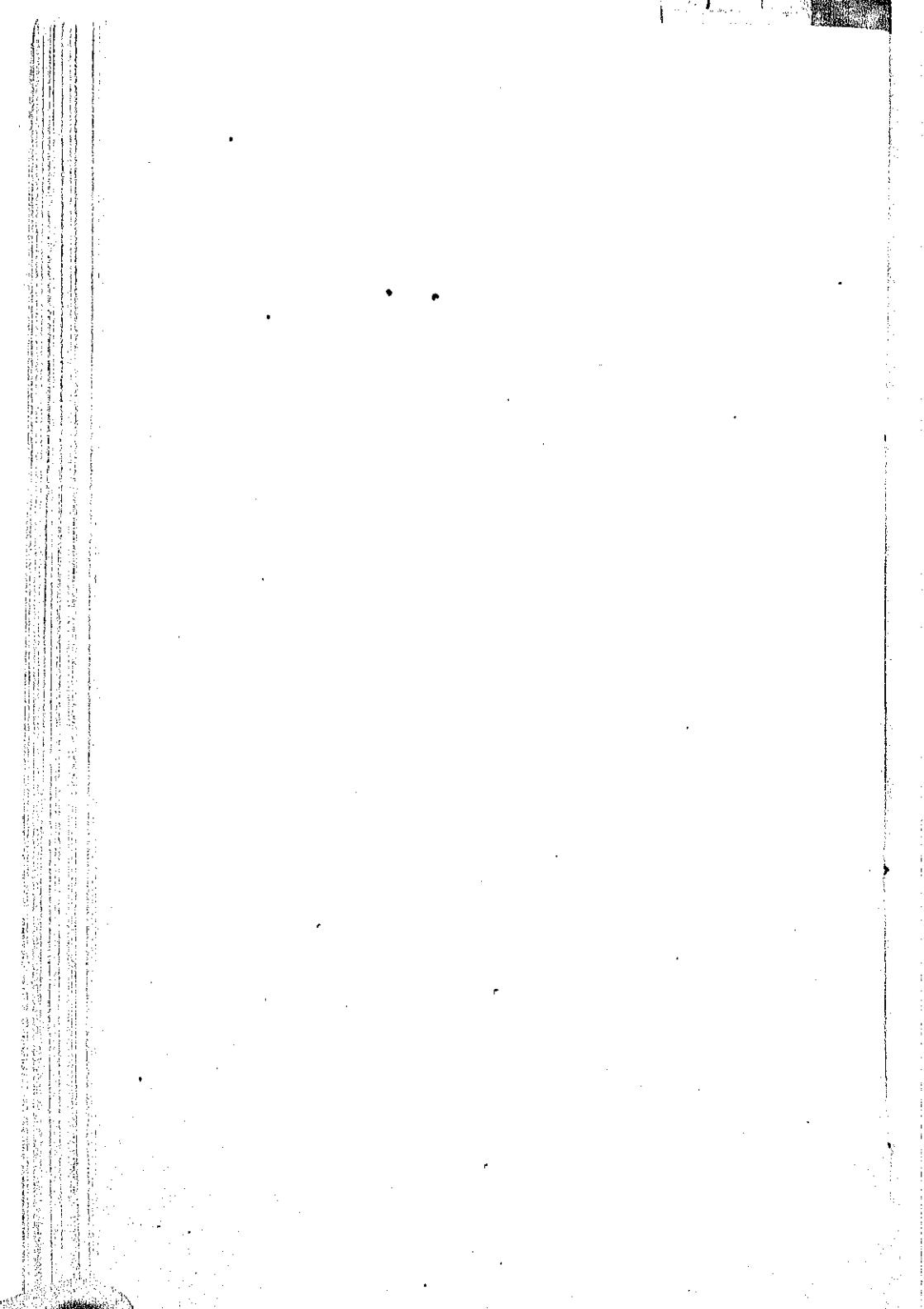
नाना तरु-वेलि-लता-मय पर्वत पर निर्जन वन था ।
निशि बसती थी झुरमुट में वह इतना घोर सघन था ।
पत्तों से छन-छन कर थी आती दिनकर की लेखा ।
वह भूतल पर बनती थी पतली-सी स्वर्णिम रेखा ।
लोनी-लोनी लतिका पर अविराम कुसुम खिलते थे ।
बहता था मारुत, तरु-दल धीरे-धीरे हिलते थे ।

नीलम-पल्लव की छवि से थी ललित मंजरी-काया ।
सोती थी तृण-शय्या पर कोमल रसाल की छाया ।
मधु पिला-पिला तरु-तरु को थी बना रही मतवाला ।
मधु-स्नेह-वलित बाला-सी थी नव मधूक की माला ।
लिखती शिरीष की कलियाँ संगीत मधुर झुन-रुन-झुन ।
तरु-मिस वन झूम रहा था खग-कुल-स्वर-लहरी सुन-सुन ।
माँ झूला झूल रही थी नीमों के मृदु झूलों पर ।
बलिदान-गान गाते थे मधुकर बैठे फूलों पर ।
थी नव-दल की हरियाली वट-छाया मोद-भरी थी,
नव अरुण-अरुण गोदों से पीपल की गोद भरी थी ।
कमनीय कुसुम खिल-खिल कर टहनी पर झूल रहे थे ।
खग बैठे थे मन मारे सेमल-तरु फूल रहे थे ।

इस तरह अनेक विटप थे, थी सुमन-सुरभि की माया।
सुकुमार-प्रकृति ने जिन की थी रची मनोहर काया।
बादल ने उन को सींचा दिनकर-कर ने गरमी दी।
धीरे-धीरे सहला कर, मारुत ने जीवन-श्री दी।
मीठे-मीठे फल खाते शाखामृग शाखा पर थे।
शक देख-देख होता था वे वानर थे वा नर थे।
फल कुतर-कुतर खाती थीं तरु पर बैठी गिलहरियाँ।
पंचम स्वर में गा उठतीं रह-रह कर वन की परियाँ।
चह-चह-चह फुदक-फुदक कर डाली से उस डाली पर,
गाते थे पक्षी होकर न्योछावर वनमाली पर।
चर कर, पगुराती माँ को दे सींग ढकेल रहे थे,
कोमल-कोमल घासों पर मृग-छौने खेल रहे थे।
अधखुले नयन हरिणी के मृदुकाय हरिण खुजलाते।
झाड़ी में उलझ-उलझ कर बारहसिंघे झुँझलाते।
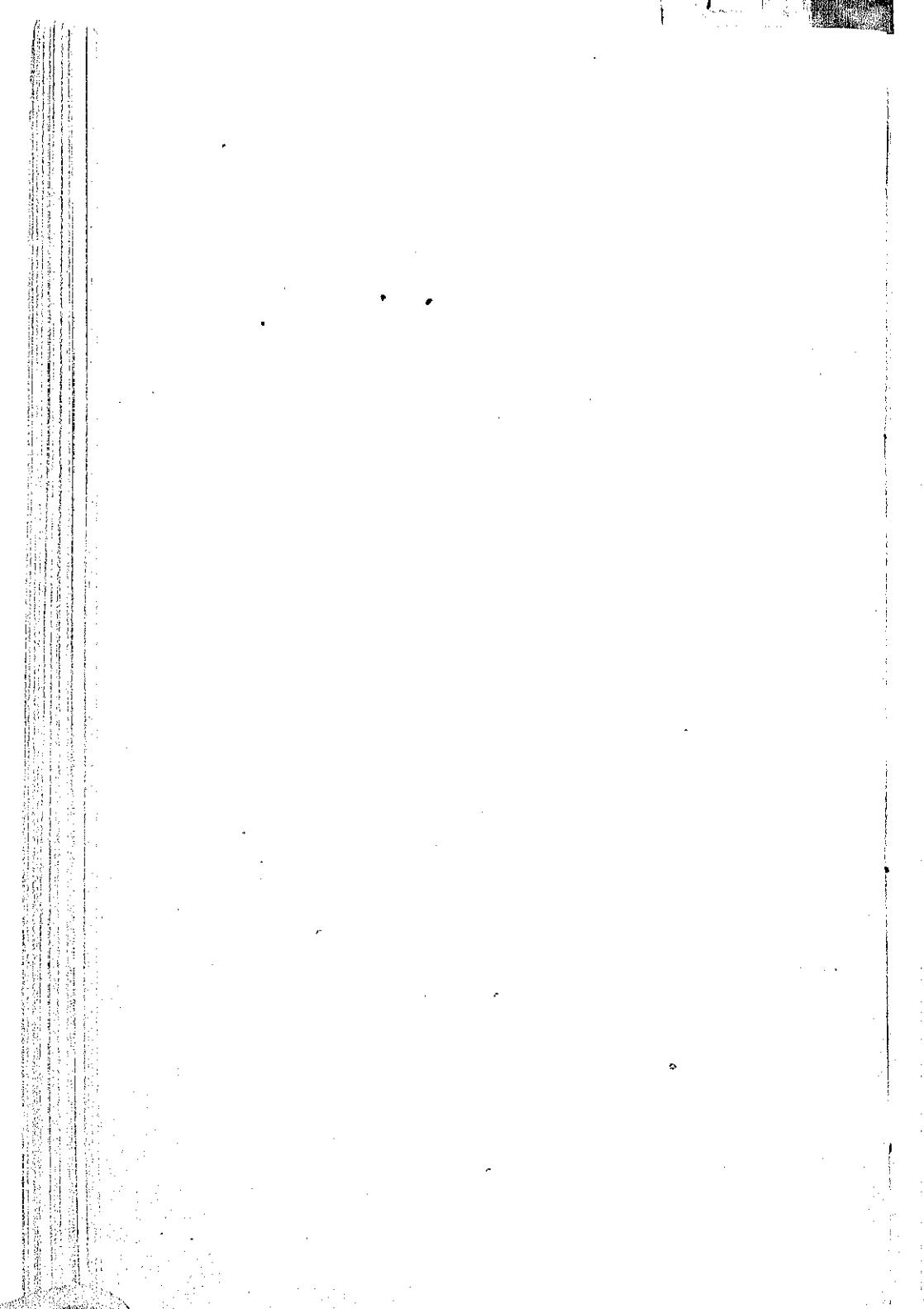
वन-धेनु-दूध पीते थे लेरू दुम हिला-हिला कर।
माँ उनको चाट रही थीं तन से तन मिला-मिला कर।
चीते नन्हें शिशु ले-ले चलते मन्थर चालों से
क्रीड़ा करते थे नाहर अपने लघु-लघु बालों से।
झरनों का पानी ले कर गज छिड़क रहे मतवाले
मानो जल बरस रहे हों सावन-घन काले-काले।
भैंसे भू खोद रहे थे आ, नहा-नहा नालों से,
थे केलि भील भी करते भालों से, करवालों से।
नव हरी-हरी दूबों पर बैठा था भीलों का दल।
निर्मल समीप ही निर्झर बहता था, कल-कल छल-छल।

['हल्दी घाटी' से]

दूसरा अवतरण

भावन

१३

श्रीधर पाठक [१८६०-१९२९]

हेमन्त

बीता कातिक मास शरद् का अन्त है,
लगा सकल सुख-दायक ऋतु हेमन्त है।
ज्वार बाजरा आदि कभी के कट गये,
खल्यान के काम से किसान निबट गये।
थोड़े दिन को बैल परिश्रम से थमे,
रब्बी के लहलहे नये अंकुर जमे।
ज़मींदार को मिली उगाही खेत की,
मूल-ब्याज सब देन महाजन की चुकी।
खाने भर को जिस किसान को बच रहा।
उस के घर आनन्द हर्ष सुख मच रहा,
जिन को कुछ नहीं बचा, करम को टो रहे,
क़िस्मत को दे दोष बैठ घर रो रहे।
ख़रीफ़ के खेतों में अब सुनसान है,
रब्बी के ऊपर किसान का ध्यान है।
जहाँ-तहाँ पर रहँट-परोहे चल रहे,
बरहे जल के चारों ओर निकल रहे।
जौ-गेहूँ के खेत, सरस सरसों घनी,
दिन-दिन बढ़ने लगी विपुल शोभा-सनी।
सुघर सौंफ, सुन्दर कसूम की क्यारियाँ,
सोआ, पालक आदि विविध तरकारियाँ।

अपने-अपने ठौर सभी ये सोहते,
सुन्दर शोभा से सब का मन मोहते ।

...   ...

अहो धन्य हेमन्त, अनोखे बहु गुनी,
ऋतुओं के सरदार बड़े बाँके धनी ।

सान्ध्य-अटन

विजन वन प्रान्त था,
प्रकृति-मुख शान्त था,
अटन का समय था,
रजनि का उदय था :
प्रसव के काल की लालिमा में लिहसा,
बाल-शशि व्योम की ओर था आ रहा ।

सद्य उत्फुल्ल-अरविन्द-नभ
नील सुविशाल नभ-वक्ष पर जा रहा था चढ़ा
दिव्य दिङ्नारि की गोद का लाल-सा
या प्रखर भूख की यातना से प्रहित
पारणा-रक्त-रस-लिप्सु,
अन्वेषणा-युक्त या क्रीडनासक्त, मृगराज-शिशु
या अतिव क्रोध-सन्तप्त जर्मन्य नृप-सा, किया

अभ्र-बैलून-उर में छिपा
इन्द्र, या इन्द्र का छत्र, या ताज, या
स्वर्ग गजराज के भाल का साज, या
कर्ण उत्तोल, या स्वर्ण का थाल-सा।
कभी यह भाव था, कभी वह भाव था;
देखने का चढ़ा चित्त में चाव था।

विजन वन शान्त था,
चित्त अभ्रान्त था,
रजनि-आनन अधिक
हो रहा कान्त था :
स्थान-उत्थान के साथ ही चन्द्र-मुख भी
समुज्ज्वल लगै था अधिकतर भला।

उस विमल विम्ब से अनति ही दूर, उस
समय एक व्योम में बिन्दु-सा लख पड़ा,
स्याह था रङ्ग कुछ गोल गति डोलता,
किया अति रङ्ग में भङ्ग उसने खड़ा;
उतरते-उतरते आ रहा था उधर
जिधर को शून्य सुनसान थल था पड़ा,
आम के पेड़ से थी जहाँ दीखती
प्रेम-आलिंगिता मालती की लता।

बस, उसी वृक्ष के सीस की ओर कुछ
खड़खड़ा कर एक शब्द-सा सुन पड़ा,
साथ ही पंख की फड़फड़ाहट, तथा
शत्रु निःशंक की कड़कड़ाहट, तथा

पक्षियों में पड़ी हड़बड़ाहट, तथा
कंठ औ' चोंच की चड़चड़ाहट, तथा
आर्त्ति-युत कातर-स्वर, तथा शीघ्रता-युत उड़ाहट-भरा
दृश्य इस दिव्य-छवि-लुब्ध दृग-युग्म को
घृणित अति दिख पड़ा ।
चित्त अति चकित, अत्यन्त दुःखित हुआ ।

[ ]

रामचन्द्र शुक्ल [१८८४-१९४१]

कछार की सैर

आज चली मंडली हमारी एक घूमे हुए
नाले का कछार धरे और ही उमंग में।
धुँधली-सी धूप धूल-सने वात-मंडल से
ढालती है मृदुता की आभा हर रंग में।
अंजित दृगंचल की कोर से किसी की खुल
रंजित रसा में रसी झूमती तरंग में—
मानो मद-भरी ढीली दृष्टि है किसी की बिछी,
मन को रमाती रम जाती अंग-अंग में।
धौले, कँकरीले, कटे विकट कगार जहाँ
जड़ों की जटा के जाल खचित दिखाते हैं,
निकल वहीं से पेड़ आड़े बढ़े हुए कई
अधर में लेटे हुए अंग लपकाते हैं।
भूमि की सलिल-सिक्त श्यामता में गुछी हरी
दूब के पटल-पट शीतल बिछाते हैं,
सारी हरियाली छाँट लाल-लाल छींटे बने
छिटके पलाश चित्त बीच छपे जाते हैं।

... ...

आस-पास धूल की उमंग कुछ दूर दौड़
दूब में दमंक हरियाली की दबाती है,

कंटकित नीलपत्र मोड़ती घमोइयों के
रक्तगर्भ पीतपुट-दल छितराती है ।
ग्राम के सीमान्त का सुहावना स्वरूप अब
भासता है, भूमि कुछ और रंग लाती है,
कहीं-कहीं किंचित हैमाभ हरे खेतों पर
रह-रह श्वेत शूक आभा लहराती है ।
उमड़ी-सी पीली-भूरी-हरी द्रुम-पुंज घटा
घेरती है दृष्टि दूर दौड़ती जो जाती है,
उसी में विलीन एक ओर धरती ही मानो
घरों के स्वरूप में उठी-सी दृष्टि आती है ।
देखते हैं जिधर उधर ही रसाल-पुंज
मंजु मंजरी से मढ़ फूले न समाते हैं;
कहीं अरुणाभ, कहीं पीत पुष्पराग प्रभा
उमड़ रही है, मन मग्न हुए जाते हैं ।
कोयल उसी में कहीं छिपी कूक उठी जहाँ,
नीचे बाल-वृन्द उसी बोल से चिढ़ाते हैं ।
छलक रही है रस-माधुरी छकाती हुई,
सौरभ से पवन झकोरे भरे आते हैं ।
देख देव-मन्दिर पुराना एक, बैठे हम
वाटिका की ओर जहाँ छाया कुछ आती है,
काली पड़ी पत्थर की पट्टियाँ पड़ी हैं कई,
घेर जिन्हें घास फेर दिन का दिखाती है ।
क्यारियाँ पटी हैं, लुप्त पथमें उगे हैं झाड़,
बाड़ की न आड़ कहीं दृष्टि बाँध पाती है,
नूतन जो रूप वहाँ भूमि को दिया था कभी,
उसे अब प्रकृति मिटाती चली जाती है,
मानव के हाथ से निकाले जो गये थे कभी,
धीरे-धीरे फिर उन्हें ला कर बसाती है ।

फूलों के पड़ोस में घमोय, बेर औ. बबूल
बसे हैं, न रोक-टोक कुछ भी की जाती है—
सुख के या रुचि के विरुद्ध एक जीव के ही
होने से न माता कृपा अपनी हटाती है।
देती है पवन, जल, धूप, सब को समान,
दाख औ' बबूल में न भेद भाव लाती है।
मेड़ पर वासक की छिन्न पंक्ति मक्खियों की
भीड़ को बुला के मधु-विन्दु है पिला रही।
कुन्द की धवल हास-माधुरी उसी के पास,
स्वासकी सुवास है समीर में मिला रही।
कोमल लचक लिये डालियाँ कनेर की जो
अरुण प्रसून-गुच्छे मोद से खिला रही,
चल चटकीली चटकाली चहकार-भरी,
बार-बार बैठ उन्हें हाव से हिला रही।
कोने पर कई कोविदार पास-पास खड़े,
वर्तुल विभक्त दल-राशि घनी छायी है।
बीच-बीच श्वेत अरुणाभ झलराये फूल
झाँकते हैं सुन ऋतुराज की अवाई है।
पत्तियों की कोर के कटाव पर फूली हुई
आँखों में हमारी जपा झोंकती ललाई है।
भौंरे मदमाते मँडराते गूँज-गूँज जहाँ,
मधुर सुमन-गीत दे रहा सुनाई है।

['हृदय का मधुर भार' से]

रघुवीर नारायण

[ज० १८८४]

सरयू

तरल-धार सरयू अलौकिक छटा से,
सुबह की सुनहरी गुलाबी घटा से,
झलक रंग लेती चली बुदबुदाती,
प्रभाकर की जगमग में जादू जगाती ।
किसी कन्दरे से समीरण हो उन्मन,
उठा मानो करता मधुप का-सा गुंजन,
प्रसूनों की गन्धों को तन में लगा कर,
विपिन के गवैयों को सोते जगा कर,
मृदुल मस्त सीटी एकाएक सुना कर,
सनासन चला और सरयू की धा कर,

चली जाती सरयू अलौकिक छटा से,
कनक रंग ले कर गुलाबी घटा से,
कभी सिर बढ़ा कर तरंगे उठाती,
कभी बुदबुदा कर के है मुस्कराती,
कभी बुलबुले कोटि पथ में बनाती,
उन्हें तोड़कर फिर प्रभा-राग गाती,
सगुन रंग यों ही दिखाती है सरयू,
अगम भेद हरि का सुनाती है सरयू ।

['विशाल भारत'से]

१४

शिवाधार पाण्डेय

[ज० १८८७]

बेला चमेली

बेला चमेली, दोनों सहेली,
बगिया में लागीं विलास करन ।
दोनों गोरी-गोरी, वयस की दोनों थोरी,
हिल-मिल लागीं हुलास करन ।
नीबू नरंगी, सेव जंगी-जंगी,
आये अलौकिक अनार ।
आलूबुखारे, आम प्यारे-प्यारे,
लग गये क़तारों दरबार ।
चकई औ' चकवा, चटक चतकवा,
चहकैं चहूँ दिसि अपार ।
कुहू-कुहू बोलैं, कोकिला कलोलैं,
मोर करें शोर बेशुमार ।
आयी अनन्दिनि, छत्र धरे चन्दिनि,
छायी चहूँ दिसि अपार ।
काले-काले भँवर, झलैं चारु चँवर,
तितलियाँ डुलावैं बयार ।
मोटी-मोटी मूली, हिंडोलों में झूलीं,
भाँटे झुलावैं बार-बार ।
आली मतवाली, कलेजे की काली,
गाजरें गंवावैं मलार ।

जामुन दुरंगी, साजें सरंगीं,
लीचियाँ बजावें बैठी ताल।
घुइयाँ तरोई, ककड़ियाँ कोई-कोई
घूमें घनी ले-ले थाल।
चन्द की खपाती, चुवें चुहचुहाती,
कहीं पका पिरथी का पोस।
बादलों की बूँदें, कोई खोलें-मूँदें,
कोई उड़ावें ही ओस।
बेला चमेली, गावें सहेली,
तान चली फैल आसमान।
फूल सारे जुट गये, लट्टू हुए लुट गये,
छूट गया कोयलों का मान।
आये गुलाबी, आये महताबी,
आये गुललाला गुलाब।
गेंदा दमक उठी, चम्पा चहक उठी,
फूल उठा फूल आफताब।
केतकी चटक चली, मालती मटक चली,
सूख गयी सेवती की शान।
बचपन से खेली, संगिनी-सहेली,
भूल गयी आपन-बिरान।
बेला गुलाब मई, सोहै सुरखाब मई,
खिल उठा अखिल अकास।
चंचल चमेली, बकुल गलमेली,
हूल उठा सारा हुलास।
बदरी करौंदे, सारे सीधे-औंधे,
खड़े हुए बाँधे कतार।
फूले-फूले फालसा, खिन्नियाँ मदालसा,
थेइ-थेइ थिरकें अपार।

केला नासपाती, बन-ठन बराती,
नाचें शराबियों की तौर।
आलू रतालू, ले-ले के ब्यालू,
खावें अलग चुप्प चोर।
गाजरों की टोली, भाँटोंसे ठठोली,
कर-कर नाचें सनाथ।
मूलियाँ सहम गयीं, झूलने में थम गयीं,
जम गयीं, सलगमों के साथ।
इतने में पहली, सुन्दर सुनहली,
चुपके किरन आयी पास।
कोई पिछड़ गये, कोई पेड़ों चढ़ गये,
भाग गयी भाजियाँ उदास।
कलियाँ चटक गयीं, चिड़ियाँ सटक गयीं,
फैल गया पिरथी प्रकास।
नैन मेरे खुल गये, स्वप्न सारे घुल गये,
भूला न हिरदय हुलास।
अजौं जाकी आस।

['कविता-कौमुदी'से]

माखनलाल चतुर्वेदी

[ज० १८८८]

चल पड़ी चुपचाप हवा

चल पड़ी चुपचाप सन-सन-सन हवा,
डालियों को यों चिताने-सी लगी,
आँख की कलियाँ, अरी, खोलो ज़रा,
हिल स्वपतियों को जगाने-सी लगी;

पत्तियों की चुटकियाँ
झट दीं बजा,
डालियाँ कुछ
ढुलमुलाने-सी लगीं,
किस परम
आनन्द-निधि के चरण पर,
विश्व-साँसें गीत
गाने-सी लगीं।

जग उठा तरु-वृन्द-जग, सुन घोषणा,
पंछियों में चहचहाहट मच गयी :
वायु का झोंका जहाँ आया वहाँ—
विश्व में क्यों सनसनाहट मच गयी ?

['हिमकिरीटिनी'से]

झरना

पर्वतमालाओं में उस दिन तुम को गाते छोड़ा,
हरियाली दुनियाँ पर अश्रु-तुषार उड़ाते छोड़ा,
इस घाटी से उस घाटी पर चक्कर खाते छोड़ा,
तरु-कुंजों, लतिका-पुंजों में छुप-छुप जाते छोड़ा,

निर्झरनी की गोदी के
शृङ्गार, दूध की धारा
फेंकते चले जाते हो
किस ओर स्वदेश तुम्हारा ?

लतिकाओं की बाहों में रह-रह कर यह गिर जाना,
पाषाणों के प्रभुओं में बह-बह कर चक्कर खाना,
फिर कोकिल का रुख रख कर कल-कल का स्वर मिल जाना,
आमों की मंजरियों का तुम पर अमृत बरसाना ।

छोटे पौधों से जिस दिन
उस लड़ने की सुध आती
तप कर तुषार की बूँदें
उस दिन आँखों पर छातीं ।

किस आशा से, गिरि-गह्वर में तुम मलार हो गाते,
किस आशा से, पाषाणों पर हो तुषार बरसाते,
इस घाटी से उस घाटी में क्यों हो दौड़ लगाते,
क्यों नीरस तरुवर-प्रभुओं के रह-रह चक्कर खाते ?

किस भय से हो
वन-मालाओं से रह-रह छुप जाते,
क्या बीती है, करुण-कंठ से
कौन गीत हो गाते ?

['समर्पण' से]

●

दूबों के दरबार में

क्या आकाश उतर आया है
दूबों के दरबार में,
नीली भूमि हरी हो आयी
इन किरणों के ज्वार में ?

क्या देखें तरुओं को, उनके
फूल लाल अंगारे हैं।
वन के विजन भिखारी ने
वसुधा में हाथ पसारे हैं !

नक्शा उतर गया है बेलों
की अलमस्त जँवानी का
युद्ध ठना, मोती की लड़ियों से
दूबों के पानी का।

तुम न नृत्य कर उठो मयूरी
दूबों की हरियाली पर

हंस तरस खायें उस मुक्ता
बोने वाले माली पर।

ऊँचाई यों फिसल पड़ी है
नीचाई के प्यार में।
क्या आकाश उतर आया है
दूबों के दरबार में ?

[ ]

'प्रसाद' (जयशंकर प्रसाद) [१८८९-१९३७]

किरण

किरण तुम क्यों बिखरी हो आज, रंगी हो तुम किस के अनुराग ?
स्वर्ण-सरसिज-किंजल्क समान, उड़ाती हो परमाणु पराग ।
धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश, मधुर मुरली-सी फिर भी मौन,
किसी अज्ञात विश्व की विकल वेदना-दूती-सी तुम कौन ?

अरुण शिशु के मुखपर सविलास, सुनहली लट घुँघराली, कान्त,
नाचती हो जैसे तुम कौन ? उषा के अंचल में अश्रान्त ।
भला उस भोले मुख को छोड़, और चूमोगी किस का भाल ?
मनोहर यह कैसा है नृत्य, कौन देता है सम पर ताल ?

कोकनद-मधु-धारा-सी तरल, विश्व में बहती हो किस ओर ?
प्रकृति को देती परमानन्द, उठा कर सुन्दर सरस हिलोर ।
स्वर्ग के सूत्र सदृश तुम कौन, मिलाती हो उस से भूलोक ?
जोड़ती हो कैसा सम्बन्ध, बना दोगी क्या विरज विशोक !

सुदिन-मणि-वलय विभूषित उषा-सुन्दरी के कर का संकेत
कर रही हो तुम किस को मधुर, किसे दिखलाती प्रेम-निकेत ?
चपल ! ठहरो, कुछ लो विश्राम, चल चुकी हो पथ शून्य अनन्त,
सुमन-मन्दिर के खोलो द्वार जगे फिर सोया वहाँ वसन्त ।

['झरना' से]

वरुणा की कछार

अरी वरुणा की शान्त कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार ।

सतत व्याकुलता के विश्राम, अरे ऋषियों के कानन-कुंज,
जगत-नश्वरता के लघु त्राण, लता, पादप, सुमनों के पुंज ।
तुम्हारी कुटियों में चुपचाप, चल रहा था उज्ज्वल व्यापार ।
स्वर्ग की वसुधा से शुचि सन्धि, गूँजता था जिस से संसार ।

अरी वरुणा की शान्त कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार ।

तुम्हारे कुंजों में तल्लीन, दर्शनों के होते थे वाद,
देवताओं के प्रादुर्भाव, स्वर्ग के स्वप्नों के संवाद ।
स्निग्ध तरु की छाया में बैठ परिषदें करती थीं सुविचार—
भाग कितना लेगा मस्तिष्क, हृदय का कितना है अधिकार ?

अरी वरुणा का शान्त कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार ।

छोड़ कर पार्थिव भोग-विभूति, प्रेयसी का दुर्लभ वह प्यार,
पिता का वक्ष भरा वात्सल्य, पुत्र का शैशव-सुलभ दुलार,
दुःख का कर के सत्य निदान, प्राणियों का करने उद्धार ।
सुनाने आरण्यक-संवाद, तथागत आया तेरे द्वार ।

अरी वरुणा की शान्त कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार ।

मुक्ति-जल की वह शीतल बाढ़, जगत की ज्वाला करती शान्त ।
तिमिर का हरने को दुःख-भार, तेज अमिताभ, अलौकिक कान्त ।

देव-कर से पीड़ित विक्षुब्ध, प्राणियों से कह उठा पुकार—
तोड़ सकते हो तुम भव-बन्ध, तुम्हें है यह पूरा अधिकार !

अरी वरुणा की शान्त कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार ।

छोड़ कर जीवन के अतिवाद, मध्य पथ से लो सुगति सुधार,
दुःख का समुदय, उस का नाश, तुम्हारे कर्मों का व्यापार ।
विश्व-मानवता का जय-घोष, यहीं पर हुआ जलद-स्वर-मन्द्र ।
मिला था वह पावन आदेश, आज भी साक्षी है रवि-चन्द्र ।

अरी वरुणा की शान्त कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार ।

तुम्हारा वह अभिनन्दन दिव्य, और उस यश का विमल प्रचार,
सकल वसुधा को दे सन्देश, धन्य होता है बारम्बार ।
आज कितनी शताब्दियों बाद, उठी ध्वंसों में वह झंकार
प्रतिध्वनि जिस की सुने दिगन्त, विश्व वाणी का बने विहार ।

अरी वरुणा की शान्त कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार ।

['लहर' से]

मुकुटधर पाण्डेय

[ज० १८९५]

प्रभात

प्राची में अरुणोदय अनूप,
है दिखा रहा निज दिव्य रूप,
लाली यह किस के अधरों की
लख जिसे मलिन नक्षत्र-हीर ?

विकसित सर में किंजल्क-जाल,
शोभित उन पर नीहार-माल;
किस सदय बन्धु की आँखों से
है टपक पड़ा यह प्रेम-नीर ?

प्रस्फुटित मल्लिका पुंज-पुंज,
कमनीय माधवी कुंज-कुंज,
पी कर कैसी मदिरा प्रमत्त
फिरती है निर्भय भ्रमर-भीर !

['नक्षत्र' से]

किंशुक-कुसुम के प्रति

किंशुक-कुसुम ! देख शाखा पर फूला तुझे,
मेरा मन आज यह फूला न समाता है;
पूरे एक वर्ष पीछे आया फिर देखने में,
इतने दिवस भला कहाँ तू बिताता है ?
कौन-कौन देश घूम आया इस बीच में तू,
हाल क्यों वहाँ का नहीं मुझ को सुनाता है;
भूल तो गया न मुझे जा के उस अंचल में,
क्या न उपहार कुछ मेरे लिए लाता है ?

है क्या तुझे याद कभी ठीक इसी ठौर पर,
तेरे साथ खेलने में प्रात मैं बिताता था;
एक ओर उषा का अरुण-हास, एक ओर
आनन अरुण तव देख सुख पाता था ।
ठीक इसी भाँति यह आम खूब बौर कर,
अपनी अपार छटा हम को दिखाता था;
तुझ को झुलाता कभी धीरे से, कभी तो रम्य
स्वागत में तेरे मैं मधुर गीत गाता था ।

कभी किसी तरु ही को मान वन-देव मैं तो,
श्रद्धायुत तेरी कुसुमांजलि चढ़ाता था;

कभी तुझे महानदी-नीर में बिखेर कर,
तेरी दिव्य आभा देख मोद उर लाता था।
शिशुओं के हेतु कभी किंशुक-कुसुम ! तुझे,
पत्र से मैं तोड़-तोड़ साथ लिये जाता था;
लाल पंखड़ी के बाल-विहग बना के अहा !
बाल उर उन का न हर्ष से समाता था।

छाया वन बीच आज सरस वसन्त वही,
मैं भी वही, और वही भूमि भी पवित्र है;
बदला न तू भी पर देखने में आता नहीं,
आज किस हेतु यह सुखद चरित्र है !
झूल-झूल जाता मम मानस-नयन बीच,
विविध विनोदमय वह मोद-चित्र है;
बात कल की थी, और आज कुछ और ही है,
विधि का विधान मित्र ! ऐसा ही विचित्र है।

कहता तुझे था कभी, किंशुक-कुसुम ! देख,
जैसा तव रूप, वैसी तुझ में न वास है;
सरसिज-सुमन सुसौरभ में सौरभित,
करता समीर यह तेरा उपहास है,
किन्तु यह मलीन मम जीवन-कुसुम आज,
वह न सुगन्धमय सरस विकास है;
देख-देख मेरी दशा आती है दया क्या तुझे,
किंवा तेरे मुख पर यह व्यंग्य हास है ?

किंशुक-कुसुम ! जब विगत वसन्त होगा,
        मौन होगी कोकिल, प्रखर ग्रीष्म आवेगा;
सूखेंगे कुटज-कचनार के सुमन-हार,
        तरुण तरणि लोनी लतिका जलावेगा।
हो के वृन्तच्युत तब तू भी यह भूमि छोड़,
        मुझ से विदा हो दूर देश चला जावेगा;
होगी भगवान से जो भेंट कहीं, याद कर
        करुण-कथा तू मेरी उन को सुनावेगा।

['काव्य-संग्रह' से]

'नवीन' (बालकृष्ण शर्मा) [१८९७-१९६०]

कलिका बबूल पर फूली

कलिका इक बबूल पर फूली,
इस की इस कंटकित डाल पर वह मन-हरनी झूली ।

इस विकराल, अनुर्वर, ऊसर, अरस काल-प्रान्तर में,
इक बबूल यह उग आया है, भरे शूल अन्तर में ।
कंटक ही कंटक झरते हैं इस की हहर-हहर में,

अरे, सुरम्या, सुरभित मधु-ऋतु इस पर कब अनुकूली ?
कलिका इस बबूल पर फूली ।

कब आयी इस की छाया में शीतलता सुकुमारी ?
किस ने इस की इस छाया में चिर-विश्रान्ति निहारी ?
इस पर तो कंटक ही जाते रहते हैं बलिहारी,

मिले उसे कंटक ही, जिस ने इस की डाली छू ली,
कलिका ऐसे तरु पर फूली ।

खड़ा हुआ है, मूल-बद्ध है, इस जग में यह अग है,
यों यह सोया-सा लगता है पर यह बहुत सजग है,
पग-विहीन है, पंख-हीन है, गति-युत यह न उरग है,

इस तक कभी न आयी जग की गति, पथ भूली-भूली ।
कलिका ऐसे तरु पर फूली ।

खड़ा हुआ था यह, इतने में सुषमा एक पधारी,
औं' कह उठी कि आयी तेरी अब खिलने की बारी,
यह बोला : मैं ? मैं बबूल हूँ, मुझ से कैसी यारी ?

वह बोली : मैं बनी अपर्णा, यदि तू है चिरशूली ।
कलिका यों कह इस पर फूली ।

आओ जग के चतुर चितेरो, अवलोको यह क्रीड़ा,
यह इस का सौभाग्य निहारो, निरखो इस की व्रीड़ा,
आओ, चित्रित करो तनिक यह इस की सौरभ-पीड़ा,

अरे, सम्हालो कम्पित कर से अपनी-अपनी तूली ।
कलिका इस बबूल पर फूली ।

इस की इस प्रियतमा कली का यह अनुराग निहारो,
इस की आसावरी प्रिया का स्वरित विहाग निहारो,
इस के काँटों में अनुरंजित सुमन-पराग निहारो,

टुक देखो तो इस मीरा की सेज बनी यह सूली ।
कलिका इन शूलों में फूली ।

['क्वासि' से]

१६

उदयशंकर भट्ट

[ज० १८९७]

नया रंग आया

नया रूप आया, नया रंग आया, उतर स्वर्ग से प्राण-शृङ्गार आया।
धरा न्हा उठी रंग में भर उमंगें, कली सो उठी, गा उठी कोकिलाएँ,
वसन्ती नदी-सी तरंगें लहर की लगी चूमने, झूमने तरु-शिखाएँ,
खिले पुष्प के कोश हिल कर पवन से, सुरभि से भरी भूधरों की शिराएँ,
कि मानो उतर विश्व का सार आया, गगन हँस उठा, मुस्करायी दिशाएँ;
कली में, कुसुम-कोपलों में, दलों में, कि उद्यान में काम साकार छाया।
जवानी उठी ज्वार-सी इस धरा की, नयी हार शृङ्गार-सी उर्वरा की,
नये स्वप्न ले कल्पनाएँ जगी हैं, नयी कोपलों से कथाएँ पगी हैं,
नये फूल के कूल छू मुस्कराता लिये एक उन्माद आया लुभाता,
यही है, यही है, जवानी यही है, प्रकृति की छलकती कहानी यही है,
इसी के लिए जी रही कोकिला के नये कंठ में गीत का ज्वार छाया;
उमड़ती, उलझती, बुझाती, जलन है, नदी की जवानी बरसता गगन है,
जवानी यही तरु-लता-पल्लवों की, कुसुम की सुरभि-मत्त मधुवल्लभों की,
भ्रमर, सारिका, शुक, चटक, तितलियों की, जवानी फुदकते हुए पक्षियों की,
कि नर के लिए किन्तु सब सृष्टि जीवन सभी से उसे मिल रहा प्राण का धन,
कि नर फूल से सीख कर मुस्कराना विजय में बदलता चला हार आया,
नया रूप आया, नया रंग आया, उतर स्वर्ग से प्राण शृंगार आया।

['यथार्थ और कल्पना' से]

'निराला' (सूर्यकान्त त्रिपाठी) [ज० १८९८]

जूही की कली

विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी-स्नेह-स्वप्न-मग्न-
अमल-कोमल तनु तरुणी-जुही की कली,
दृग बन्द किये, शिथिल, पत्रांक में,
वासन्ती निशा थी;
विरह-विधुर-प्रिया-संग छोड़
किसी दूर देश में था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल।
आयी याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात,
आयी याद चाँदनी की धुली हुई आधी रात,
आयी याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात—
फिर क्या ? पवन
उपवन-सर-सरित गहन गिरि-कानन
कुंज-लता-पुंजों को पार कर
पहुँचा जहाँ उस ने की केलि कली-खिली-साथ।
सोती थी,
जाने कहो कैसे प्रिय-आगमन वह ?
नायक ने चूमे कपोल,
डोल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिंडोल।
इस पर भी जागी नहीं,

चूक-क्षमा माँगी नहीं,
निद्रालस बंकिम विशाल नेत्र मूँदे रही—
किंवा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिये,
कौन कहे ?
निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की
कि झोंकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिये गोरे कपोल गोल;
चौंक पड़ी युवती—चकित चितवन निज चारों ओर फेर,
हेर प्यारे को सेज-पास, नम्रमुखी हँसी—खिली,
खेल रंग, प्यारे-संग।

['परिमल'से]

सन्ध्या-सुन्दरी

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे-धीरे-धीरे,
तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर-मधुर हैं दोनों उस के अधर,
किन्तु ज़रा गम्भीर—नहीं है उन में हास-विलास।
हँसता है तो केवल तारा एक
गुँधा हुआ उन घुँघराले काले-काले बालों से,

हृदय-राज्य की-रानी का वह करता है अभिषेक।
अलसता की-सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली,
सखी-नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह,
छाँह-सी अम्बर-पथ से चली।
नहीं बजती उस के हाथों में कोई वीणा,
नहीं होता कोई अनुराग-राग आलाप,
नूपुरों में भी रुन-झुन रुन-झुन नहीं,
सिर्फ़ एक अव्यक्त शब्द-सा चुप-चुप-चुप
है गूँज रहा सब कहीं—

व्योम-मंडल जगती-तल में—
सोती शान्त सरोवर पर उस अमल कमलिनी-दल में—
सौन्दर्य-गर्विता सरिता के अति विस्तृत वक्षःस्थल में—
धीर-वीर-गम्भीर शिखर पर हिमगिरि-अटल अचल में—
उत्ताल तरंगाघात, प्रलय-घन-गर्जन, जलधि प्रबल में—
क्षिति में—जल में—नभ में—अनिल-अनल में—
सिर्फ़ एक अव्यक्त शब्द-सा चुप-चुप-चुप
है गूँज रहा सब कहीं—

और क्या है? कुछ नहीं।
मदिरा की वह नदी बहाती आती,
थके हुए जीवों को वह सस्नेह
प्याला वह एक पिलाती।

सुलाती उन्हें अंक पर अपने,
दिखलाती फिर विस्मृति के वह अगणित मीठे सपने।
अर्द्धरात्रि की निश्चलता में हो जाती जब लीन,
कवि का बढ़ जाता अनुराग,

विरहाकुल कमनीय कंठ से
आप निकल पड़ता तब एक विहाग ।

['परिमल' से]

बादल राग

[१]

झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर !
राग अमर ! अम्बर में भर निज रोर ।

झर-झर-झर निर्झर-गिरि-सर में
घर, मरु, तरु-मर्मर, सागर में,
सरित्-तडित गति-चकित पवन में,
मन में, विजन गहन-कानन में,
आनन-आनन में, रव घोर कठोर
राग अमर ! अम्बर में भर निज रोर ।

अरे वर्ष के हर्ष !
बरस तू, बरस-बरस रस-धार ।
पार ले चल तू मुझ को,
बहा, दिखा मुझ को भी निज
गर्जन-भैरव-संसार ।

उथल-पुथल कर हृदय
मचा हलचल

चल रे चल,
मेरे पागल बादल ।

धँसता दल-दल,
हँसता है नद खल्-खल्
बहता, कहता कुल-कुल कल-कल कल-कल ।
देख-देख नाचता हृदय
बहने को महा विकल-बेकल,
इस मरोर से—इसी शोर से—
सघन घोर गुरु-गहन रोर से
मुझे गगन का दिखा सघन वह छोर ।
राग अमर ! अम्बर में भर निज रोर ।

[२]

ऐ निर्बन्ध !
अन्ध-तम-अगम-अनर्गल— बादल !
ऐ स्वच्छन्द !
मन्द चंचल-समीर-रथ पर उच्छृङ्खल ।
ऐ उद्दाम !
अपार कामनाओं के प्राण !
बाधारहित विराट् !
ऐ विप्लव के प्लावन !
सावन-घोर गगन के
ऐ सम्राट् !
ऐ अटूट पर छूट टूट पड़ने वाले उन्माद !
विश्व-विभव को लूट-लूट लड़ने वाले अपवाद !
श्री बिखेर, मुख फेर कली के निष्ठुर पीडन
छिन्न-भिन्न कर पत्र-पुष्प-पादप-वन-उपवन,

वज्र-घोष से ऐ प्रचंड !
आतंक जमाने वाले,
कम्पित जंगम, नीड-विहंगम,
ऐ न व्यथा पाने वाले।
भय के मायामय आँगन पर
गरजो विप्लव के नव जलधर।

[३]

निरंजन बने नयन-अंजन।
कभी चपल-गति, अस्थिर-मति,
जल-कलकल तरल प्रवाह,
वह उत्थान-पतन-हत अविरत
संसृति-गत उत्साह,
कभी दुख-दाह,
कभी जलनिधि-जल विपुल अथाह,
कभी क्रीडारत साथ प्रभंजन
बने नयन-अंजन।
कभी किरण-कर पकड़-पकड़ कर
चढ़ते हो तुम मुक्त गगन पर,
झलमल ज्योति अयुत-कर-किंकर,
सीस झुकाते तुम्हें तिमिरहर।
अहे कार्य से गत कारण पर !
निराकार, हैं तीनों मिले भुवन—
बने नयन-अंजन।
आज श्याम-घन श्याम, श्याम छवि,
मुक्त-कंठ है तुम्हें देख कवि,

अहो कुसुम-कोमल कठोर-पवि !
शत-सहस्र-नक्षत्र-चन्द्र-रवि-संस्तुत
नयन-मनोरंजन !
बने नयन-अंजन !

['परिमल' से]

वसन्त आया

सखि, वसन्त आया ।
भरा हर्ष वन के मन, नवोत्कर्ष छाया ।
किसलय-वसना नव-वय लतिका
मिली मधुर प्रिय-उर तरु-पतिका,
मधुप-वृन्द बन्दी पिक-स्वर नभ सरसाया ।
लता-मुकुल-हार-गन्ध-भार भर
बही पवन मन्द-मन्द मन्दतर,
जागी नयनों में वन-यौवन की माया ।
आवृत सरसी-उर-सरसिज उठे,
केशर के केश कली के छुटे,
स्वर्ण शस्य-अंचल पृथ्वी का लहराया ।

['गीतिका' से]

१७

वसन्त की परी के प्रति

आओ, आओ फिर, मेरे वसन्त की परी—
छवि-विभावरी :
सिहरो, स्वर से भर-भर, अम्बर की सुन्दरी—
छवि-विभावरी ।

बहे फिर चपल ध्वनि-कलकल तरंग,
तरल मुक्त नव-नव छल के प्रसंग,
पूरित-परिमल निर्मल सजल-अंग,
शीतल-मुख मेरे तट की निस्तल निझरी—
छवि-विभावरी ।

निर्जन ज्योत्स्नाचुम्बित वन सघन,
सहज समीरण, कली निरावरण
आलिंगन दे उभार दे मन,
तिरे नृत्य करती मेरी छोटी-सी तरी—
छवि-विभावरी।

आयी है फिर मेरी बेला की वह बेला,
जुही की कली की प्रियतम से परिणय-हेला,
तुमसे मेरी निर्जन बातें—सुमिलन मेला,
कितने भावों से हर जब हो मन पर विहरी—
छवि-विभावरी ।

['अनामिका' से]

ठूँठ

ठूँठ यह है आज ।
गयी इस की कला,
गया है सकल साज !
अब यह वसन्त से होता नहीं अधीर,
पल्लवित झुकता नहीं अब यह धनुष-सा,
कुसुम-से काम के चलते नहीं हैं तीर,
छाँह में बैठते नहीं पथिक आह भर,
झरते नहीं यहाँ दो प्रणयियों के नयन-नीर,
केवल वृद्ध विहग एक बैठता कुछ कर याद ।

['अनामिका' से]

सुमित्रानन्दन पन्त [ज० १९००]

छाया

कौन, कौन तुम परिहत-वसना,
म्लान-मना, भू-पतिता-सी,
वात-हता विच्छिन्न लता-सी
रति-श्रान्ता व्रज-वनिता-सी ?

नियति-वंचिता, आश्रय-रहिता,
जर्जरिता, पद्-दलिता-सी,
धूलि-धूसरित मुक्त-कुन्तला,
किस के चरणों की दासी ?

कहो, कौन हो दमयन्ती-सी
तुम तरु के नीचे सोयी ?
हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या
अलि ! नल-सा निष्ठुर कोई ।

पीले पत्रों की शय्या पर
तुम विरक्ति-सी, मूर्च्छा-सी,
विजन विपिन में कौन पड़ी हो
विरह-मलिन, दुःख-विधुरा-सी ?

गूढ़ कल्पना-सी कवियों की
अज्ञाता के विस्मय-सी,
ऋषियों के गम्भीर हृदय-सी,
बच्चों के तुतले भय-सी,

भू-पलकों पर स्वप्न-जाल-सी
स्थल-सी, पर चंचल जल-सी
मौन अश्रुओं के अंचल-सी,
गहन गर्त में समतल-सी ?

तुम पथ-श्रान्ता द्रुपद-सुता-सी
कौन छिपी हो अलि ! अज्ञात,
तुहिन अश्रुओं से निज गिनती
चौदह दुखद वर्ष दिन-रात ?

तरुवर की छायानुवाद-सी
उपमा-सी, भावुकता-सी
अविदित भावाकुल भाषा-सी,
कटी-छँटी नव कविता-सी;

पछतावे की परछाईं-सी
तुम भू पर छायी हो कौन ?
दुर्बलता-सी, अँगड़ाई-सी,
अपराधी-सी भय से मौन !

मदिरा की मादकता-सी औ'
वृद्धावस्था की स्मृति-सी,
दर्शन की अति जटिल ग्रन्थि-सी
शैशव की निद्रित स्मिति-सी,

आशा के नव इन्द्रजाल-सी,
सजनि ! नियति-सी अन्तर्धान,
कहो कौन तुम तरु के नीचे
भावी-सी हो छिपी अजान ?

चिर अतीत की विस्मृत स्मृति-सी,
नीरवता की-सी झंकार,
आँख-मिचौनी-सी असीम की,
निर्जनता की-सी उद्गार,

परियों की निर्जल सरसी-सी
वन्य देवियाँ जहाँ विहार,
करतीं छिप-छिप छाया-जल में,
अनिल वीचियों में सुकुमार ।

तुम त्रिभुवन के नयन-चित्र-सी
यहाँ कहाँ से उतरी प्रात,
जगती की नेपथ्य भूमि-सी,
विश्व विदूषक-सी अज्ञात ।

किस रहस्यमय अभिनय की तुम
सजनि ! यवनिका हो सुकुमार,
इस अभेद्य पट के भीतर है
किस विचित्रता का संसार ?

निर्जनता के मानस-पट पर
बार-बार भर ठंढी साँस
क्या तुम छिप कर क्रूर काल का
लिखती हो अकरुण इतिहास ?

सखि ! भिखारिणी-सी तुम पथ पर
फैला कर अपना अंचल,
सूखे पातों ही को पा क्या
प्रमुदित रहती हो प्रतिपल ?

पत्रों के अस्फुट अधरों से
संचित कर सुख-दुख के गान
सुला चुकी हो क्या तुम अपनी
इच्छाएँ सब अल्प, महान ?

कालानिल की कुंचित गति से
बार-बार कम्पित हो कर,
निज जीवन के मलिन पृष्ठ पर
नीरव शब्दों में निर्भर

किस अतीत का करुण चित्र तुम
खींच रही हो कोमलतर,
भग्न भावना, विजन वेदना,
विफल लालसाओं से भर ?

ऐ अवाक् निर्जन की भारति,
कम्पित अधरों से अनजान
मर्म-मधुर किस सुर में गाती
तुम अरण्य के चिर-आख्यान ।

ऐ अस्पृश्य, अदृश्य अप्सरसि !
यह छाया-तन, छाया-लोक,
मुझ को भी दे दो मायाविनि,
उर की आँखों का आलोक !

ज्योतिर्मय शत नयन खोल नित,
पुलकित पलक पसार अपार,
श्रान्त यात्रियों का स्वागत क्या
करती हो तुम बारम्बार ?

थके चरण-चिह्नों को अपनी
नीरव उत्सुकता से भर,
दिखा रही हो अथवा जग को
पर-सेवा का मार्ग अमर ?

कभी लोभ-सी लम्बी हो कर
कभी तृप्ति-सी हो फिर पीन,
क्या संसृति की अचिर भूति तुम
सजनि ! नापती हो स्थिति हीन

श्रमित, तपित अवलोक पथिक को
रहती या यों दीन, मलीन ?
ऐ विटपी की व्याकुल प्रेयसि,
विश्व-वेदना में तल्लीन !

दिनकर-कुल में दिव्य जन्म पा
बढ़ कर नित तरुवर के संग,
मुरझे पत्रों की साड़ी से
ढँक कर अपने कोमल अंग

सदुपदेश सुमनों से तरु के
गूँथ हृदय का सुरभित हार,
पर-सेवा रत रहती हो तुम,
हरती नित पथ-श्रान्ति अपार !

हे सखि ! इस पावन अंचल से
मुझ को भी निज मुख ढँक कर,
अपनी विस्मृत सुखद गोद में
सोने दो सुख से क्षण-भर

चूर्ण शिथिलता-सी अँगड़ा कर
होने दो अपने में लीन,
पर-पीड़ा से पीड़ित होना
मुझे सिखा दो, कर मद-हीन !

... ...

गाओ, गाओ विहग-बालिके,
तरुवर से मृदु मंगल-गान,
मैं छाया में बैठ तुम्हारे
कोमल स्वर में कर लूँ स्नान !

—हाँ सखि ! आओ बाँह खोल हम
लग कर गले, जुड़ा लें प्राण,
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में,
हो जावें द्रुत अन्तर्धान ।

['पल्लव' से]

एक तारा

नीरव सन्ध्या में प्रशान्त
डूबा है सारा ग्राम प्रान्त !
पत्रों के आनत अधरों पर सो गया निखिल वन का मर्मर,
ज्यों वीणा के तारों में स्वर !
खग-कूजन भी हो रहा लीन, निर्जन गोपथ अब धूलि-हीन,
धूसर भुजंग-सा जिह्म, क्षीण !
झींगुर के स्वर का प्रखर तीर केवल प्रशान्ति को रहा चीर,
सन्ध्या-प्रशान्ति को कर गँभीर !
इस महाशान्ति का उर उदार, चिर-आकांक्षा की तीक्ष्ण धार
ज्यों बेध रही हो आर-पार !

अब हुआ सान्ध्य स्वर्णाभलीन,
सब वर्ण-वस्तु से विश्वहीन !
गंगा के चल जल में निर्मल, कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल
है मूँद चुका अपने मृदु दल !
लहरों पर स्वर्ण रेख सुन्दर पड़ गयी नील, ज्यों अधरों पर
अरुणाई प्रखर शिशिर से डर !
तरु-शिखरों से वह स्वर्ण-विहग उड़ गया, खोल निज पंख सुभग,
किस गुहा नीड में रे किस मग !
मृदु-मृदु स्वप्नों से भर अंचल, नव नील-नील, कोमल-कोमल,
छाया तरु-वन में तम श्यामल

१८

पश्चिम नभ में हूँ रहा देख
उज्ज्वल, अमन्द नक्षत्र एक !
अकलुष, अनिन्द्य नक्षत्र एक, ज्यों मूर्तिमान ज्योतित विवेक,
उर में हो दीपित अमर टेक !
किस स्वर्णाकांक्षा का प्रदीप वह लिये हुए ? किस के समीप ?
मुक्तालोकित ज्यों रजत सीप !
क्या उस की आत्मा का चिर-धन, स्थिर, अपलक नयनों का चिन्तन—
क्या खोज रहा वह अपनापन !
दुर्लभ रे दुर्लभ अपनापन, लगता यह निखिल विश्व निर्जन,
वह निष्फल इच्छा से निर्धन !

आकांक्षा का उच्छ्वसित वेग
मानता नहीं बन्धन-विवेक !
चिर-आकांक्षा से ही थर्-थर् उद्वेलित रे अहरह सागर,
नाचती लहर पर हहर लहर !
अविरत इच्छा ही में नर्तन करते अबाध रवि, शशि, उडुगन,
दुस्तर आकांक्षा का बन्धन !
रे उडु, क्या जलते प्राण विकल ! क्या नीरव, नीरव नयन सजल !
जीवन निसंग रे व्यर्थ-विफल !
एकाकीपन का अन्धकार, दुस्सह है इस का मूक भार,
इस के विषाद का रे न पार !

... ...

चिर अविचल पर तारक अमन्द !
जानता नहीं वह छन्द-बन्ध !
वह रे अनन्त का मुक्त मीन, अपने असंग सुख में विलीन,
स्थित निज स्वरूप में चिर नवीन !

निष्कम्प-शिखा-सा वह निरुपम, भेदता जगत जीवन का तम,
वह शुद्ध, प्रबुद्ध, शुक्र, वह सम !

गुंजित अलि-सा निर्जन अपार, मधुमय लगता घन-अन्धकार,
हलका एकाकी व्यथा-भार !
जगमग-जगमग नभ का आँगन लद गया कुन्द-कलियों से घन,
वह आत्म और यह जग-दर्शन ।

['गुंजन' से]

●

ग्राम-श्री

फैली खेतों में दूर तलक मख़मल की कोमल हरियाली,
लिपटीं जिस से रवि की किरणें चाँदी की-सी उजली जाली ।
तिनकों के हरे-हरे तन पर हिल हरित रुधिर है रहा झलक,
श्यामल भूतल पर झुका हुआ नभ का चिर निर्मल नील फलक ।

रोमांचित-सी लगती वसुधा आयी जौ गेहूँ में बाली,
अरहर सनई की सोने की किंकिणियाँ हैं शोभाशाली ।
उड़ती भीनी तैलाक्त गन्ध, फूली सरसों पीली-पीली,
लो, हरित धरा से झाँक रही नीलम की कलि, तीसी नीली ।

रँग-रँग के फूलों में रिलमिल हँस रही संखिया मटर खड़ी ।
मख़मली पेटियों-सी लटकीं छीमियाँ, छिपाये बीज लड़ी ।
फिरती है रँग-रँग की तितली रँग-रँग के फूलों पर सुन्दर,
फूले फिरते हों फूल स्वयं उड़-उड़ वृन्तों से वृन्तों पर ।

अब रजत-स्वर्ण मंजरियों से लद गयी आम्र-तरु की डाली ।
झर रहे ढाक, पीपल के दल, हो उठी कोकिला मतवाली ।
महके कटहल, मुकुलित जामुन, जंगल में झरबेरी झूली ।
फूले आड़ू, नीबू, दाड़िम, आलू, गोभी, बैंगन, मूली ।

पीले मीठे अमरूदों में अब लाल-लाल चित्तियाँ पड़ीं,
पक गये सुनहले मधुर बेर, अँवली से तरु की डाल जड़ीं ।
लहलह पालक, महमह धनिया, लौकी औ' सेम फलीं, फैलीं,
मख़मली टमाटर हुए लाल, मिरचों की बड़ी हरी थैली ।

गंजी को मार गया पाला, अरहर के फूलों को झुलसा,
हाँका करती दिन भर बन्दर अब मालिन की लड़की तुलसा ।
बालाएँ गजरा काट-काट, कुछ कह गुप-चुप हँसतीं किन-किन,
चाँदी की-सी घंटियाँ तरल बजती रहतीं रह-रह खिन्-खिन् ।

छायातप के हिलकोरों में चौड़ी हरीतिमा लहराती,
ईखों के खेतों पर सुफेद काँसों की झंडी फहराती ।
ऊँची अरहर में लुका-छिपी खेलतीं युवतियाँ मदमाती,
चुम्बन पा प्रेमी युवकों के श्रम से श्लथ जीवन बहलातीं ।

बगिया के छोटे पेड़ों पर सुन्दर लगते छोटे छाजन,
सुन्दर, गेहूँ की बालों पर मोती के दानों-से हिमकन ।

प्रातः ओझल हो जाता जग, भू पर आता ज्यों उतर गगन,
सुन्दर लगते फिर कुहरे से उठते से खेत, बाग़, गृह, वन ।

बालू के साँपों से अंकित गंगा की सतरंगी रेती,
सुन्दर लगती सरपत-छायी तट पर तरबूज़ों की खेती ।
अँगुली की कंघी से बगुले कलँगी सँवारते हैं कोई,
तिरते जल में सुरख़ाब, पुलिन पर मगरौठी रहती सोयी ।

डुबकियाँ लगाते सामुद्रिक, धोतीं पीली चोंचें धोबिन,
उड़ अबाबील, टिटहरी, बया, चाहा चुगते कर्दम, कृमि, तृन ।
नीले नभ में पीलों के दल आतप में धीरे मँडराते,
रह-रह काले, भूरे, सुफ़ेद चल पंखों के रँग झलकाते ।

लटके तरुओं पर विहग-नीड़ बनचर लड़कों को हुए ज्ञात,
रेखा-छवि विरल टहनियों की ठूँठे तरुओं के नग्न गात ।
आँगन में दौड़ रहे पत्ते, घूमती भँवर-सी शिशिर वात ।
बदली छँटने पर लगती प्रिय ऋतुमती धरित्री सद्य स्नात ।

हँसमुख हरियाली हिम आतप सुख से अलसाये-से सोये,
भीगी अँधियाली में निशि की तारक स्वप्नों में-से खोये,
मरकत डिब्बे-सा खुला ग्राम—जिस पर नीलम नभ आच्छादन—
निरुपम हिमान्त में स्निग्ध शान्त निज शोभा से हरता जन-मन ।

['ग्राम्या' से]

झंझा में नीम

सर्-सर् मर्-मर्
रेशम के-से स्वर भर,
घने नीम-दल
लम्बे, पतले, चंचल,
श्वसन-स्पर्श से
रोम-हर्ष से
हिल-हिल उठते प्रति पल।

वृक्ष शिखर से भू पर
शत-शत मिश्रित ध्वनि कर
फूट पड़ा लो निर्झर,
मरुत,—कम्प, अर···

झूम-झूम झुक-झुक कर,
भीम नीम तरु निर्भर
सिहर-सिहर थर-थर-थर्
करता सर-मर्
चर्-मर्!

लिप-पुत गये निखिल दल
हरित गुंज में ओझल

वायु-वेग से अविरल
धातु-पत्र-से बज कल !

खिस्क-खिसक, साँसें भर,
भीत, पीत, कृश, निर्बल,
नीम-दल सकल
झर-झर पड़ते पल-पल !

['आधुनिक कवि—२' से]

सोनजुही

सोनजुही की बेल नवेली,
एक वनस्पति-वर्ष, हर्ष से खेली, फूली, फैली,
सोनजुही की बेल नवेली !

आँगन के बाड़े पर चढ़ कर
दारु-खम्भ को गलबाँही भर,
कुहनी टेक कँगूरे पर
वह मुसकाती अलबेली ।
सोनजुही की बेल छबीली !

दुबली-पतली देह-लतर, लोनी लम्बाई,
प्रेम डोर-सी सहज सुहायी!
फूलों के गुच्छों-से उभरे अंगों की गोलाई,

—निखरे रंगों की गोराई—
शोभा की सारी सुघराई
जाने कब भुजगी ने पायी!
सौरभ के पलने में झूली,
मौन मधुरिमा में निज भूली,—
यह ममता की मधुर लता,
मन के आँगन में छायी!
सोनजुही की बेल लजीली,
पहिले अब मुसकायी!

एक टाँग पर उचक खड़ी हो,
मुग्धा वय से अधिक बड़ी हो,
पैर उठा, कृश पिंडुली पर धर,
घुटना मोड़, चित्र बन सुन्दर।
पल्लव देही से मृदु मांसल,
खिसका धूपछाँह का आँचल,

पंख सीप के खोल पवन में,
वन की हरी परी आँगन में
उठ अंगूठे के बल ऊपर
उड़ने को अब छूने अम्बर!
सोनजुही की बेल हठीली
लटकी सधी अधर पर!

झालरदार ग़रारा पहने,
स्वर्णिम कलियों के सज गहने
बूँटे-कढ़ी चूनरी फहरा,
शोभा की लहरी-सी लहरा,

•

तारों की-सी छाँह साँवली,
सीधे पग धरती न बावली,
कोमलता के भार से मरी,
अंग-भंगिमा-भरी, छरहरी।
उद्भिद् जग की-सी निर्झरिणी
हरित नीर, बहती-सी टहनी !
सोनजुही की बेल,
चौकड़ी भरती चंचल हिरनी !

आकांक्षा-सी उर से लिपटी,
प्राणों के रज-तम से चिपटी
भू-यौवन की-सी अँगड़ाई,
मधु-स्वप्नों की-सी परछाँई–

रीढ़ स्तम्भ का ले अवलम्बन
धरा-चेतना करती रोहण,–
आः, विकास पथ में भू-जीवन !
सोनजुही की बेल,
गन्ध बन उड़ी, भरा नभ का मन !

मूल स्थूल धरती के भीतर,
खींच अचेतन का तम बाहर,

१६

वह अपने अन्तर का प्रिय धन
शान्ति ध्वजा-सा शुभ्र मणि-सुमन
कम्पित मृदुल हथेली पर धर,
उठा क्षीण भुजवृन्त उच्चतर--

अर्पित करती, लो, प्रकाश को
निज अधरों के अमृत हास को
प्राणों के स्वर्णिम हुलास को !

सोनजुही की बेल,
समर्पित करती अन्तर्मुख विकास को,
उर सुवास को !

['अतिमा' से]

कूर्माचल के प्रति

जन्मभूमि, प्रिय मातृभूमि की शीर्षरत्न, शत स्वागत !
हिम-सौन्दर्य-किरीटित जिस का शारद मस्तक उन्नत
उषा-रश्मि स्मित, स्फटिक शुभ्र, स्वर्णिम शिखरों में उठ कर
पुण्य धरा के स्वर्गोन्मुख सोपान पन्थ-सा विस्तृत,
निज अवाक् गरिमा से करता नर-अमरों को मोहित,
निखिल विश्व को दिग्-विराट् भौगोलिक विस्मय से भर !

बाल-प्रवासी शिशु घर लौटा, वह भी क्या अभ्यागत ?
स्नेह-उच्छ्वसित, हेमज पुलकित अंचल का शरणागत !
तेरी नैसर्गिक सुषमा में जननि, सदा से लालित,
हँसमुख छायातप से गुम्फित श्याम-गौर जिस का तन,
श्री-शोभा-स्वप्नों से निर्मित गीत-भृंग-गुंजित मन,
रजत अनिल-सौरभ पलने में दोलित शैशव मुकुलित !

क्या न खगों ने मृदु कलरव भर प्रथम लोरियाँ गायीं ?
पंखों से बरसा कर सतरँग किरणों की परछाईं !
स्मरण नहीं क्या तुझ को ? तू रहती थी सतत उपस्थित,
चित्र-लिखी-सी उड़ती तितली के सँग-सँग उड़ मन में
कैसे बड़ा हुआ मैं, घुटनों के बल चल आँगन में—
माँ से बढ़ कर रही धात्रि, तू बचपन में मेरे हित !

धात्रि-कथा रूपक भर : तू ने किया जनक बन पोषण,
मातृहीन बालक के सिर पर वरद-हस्त धर गोपन ।
मातृ-भूमि में माँ का मुख शिशु ने पीछे पहचाना !
कूर्माचल, प्रिय तात, पुत्र मैं रहा कूर्मवत् दृढ़ व्रत,
खींच अधः इन्द्रिय मुख भीतर, ऊर्ध्व पीठ पर अविरत
युग मन भार वहन करना जिस ने स्वधर्म नित माना !

छुटपन से विचरा हूँ मैं इन धूप-छाँह शिखरों पर,
दूर, क्षितिज पर हिल्लोलित-सी दृश्य-पटी पर निःस्वर
हलकी-गहरी छायाओं के रेखांकित-से पर्वत,

नील, बैंगनी, कपिश, पीत, हरिताभ वर्ण श्री छहरा
मोहित अन्तर में भर देते आदिम विस्मय गहरा,
अन्तरिक्ष विस्फारित नयनों को अपलक रख तद्वत् !

ऊपर सीपी के रँग का नभ, नव मुक्तातप से भर,
रजत नीलिमा गलित, सहज हँसता-सा लगता सुन्दर !
ऊँचे उड़ने वाले, निर्जल, कौश-मसृण, रोमिल घन

चूर्ण रुपहली अलकों में उलझा रवि-किरणें उज्ज्वल
मौन इन्द्रधनुषी छाया का स्वप्न नीड़ रच, चंचल
उड़ती-चितवन के खग को बन्दी कर लेते कुछ क्षण !

विजन घाटियों पर चढ़ कर शिशु मेषों-से दुग्धोज्ज्वल,
चित्रग्रीव हिम के घन पल में होते नभ में ओझल !
पावस में जब मिहिका में लिपटा रहता गिरि-प्रान्तर,

शैल-गुहाओं में दहाड़ते सिंहों-से जग क्षण में
दुहरी-तिहरी तड़ित्-शृंखला तड़काते घन-तन में,
बरसा कर आग्नेय सानुओं-से स्फुलिंग के निर्झर !

षड्ऋतुएँ सुरबालाओं-सी करतीं सज-धज नर्तन,
वासन्ती किसलय कितने ही रँग करते परिवर्तन,—
रजत-ताम्र, पाटल-इंगुरी, हरित-पीत, मृदु कम्पित !

सलज मौन मुकुलों में बरसा अर्द्ध-निमीलित चितवन
फूलों के अंगों की अप्सरि-सी रंग प्रिय यौवन
उड़ती पर्वत-घाटी सौरभ-पंखों में रोमांचित !

उच्च प्रसारों में लेटा, छाया मर्मर परिवीजित,
श्रान्त पान्थ-सा ग्रीष्म ऊँघता भरी दुपहरी में नित !
पागुर करते दृढ़ निर्द्वन्द्व ककुद्मत्-शैल वृषभवत् ,

काले पड़ते तिग्म धूप से कुरँग तलैटी में रँग,
कूटों पर लिपटा रहता नीलातप मेघों के सँग,
चारवायु हिम जलद पंख का चँवर डुलाती अविरत !

मसृण तुहिन सूत्रों में गुम्फित रजत वाष्प रज के कण
मोती के रँग के धूमों से स्फटिक शिला के घन बन,
प्रावृट् में कर शंख नाद, घिरते नीलांजन श्यामल

सुरधनुओं के दुहरे-तिहरे फहरा छाया-केतन,
गिरि-शृंगों पर तडित् स्खलित, भरते प्रचंड गुरु गर्जन,
नील, पीत, सित, लोहित विद्युल्लतिका कम्पित प्रतिपल !

मरकत-हरित प्रसारों में हँस, दिक् प्रसन्न, तृण पुलकित,
फेनों के हीरक झरनों, मुक्ता स्रोतों में मुखरित
जब वर्षा के बाद निखरता हेम-खंड स्निग्धोत्तर ।

इन्द्रलोक-सा रजतारुण स्वर्णिम छायाओं से स्मित,
सद्य धुले नव नीहारों का अर्ध-नील कर विरचित,
तब मन कहता, क्या न स्वर्ग-सुख से निसर्ग-सुख सुन्दर ?

गहरे सूर्यास्तों को रँग सित वाष्पों की पीठों पर
नृत्य-मुग्ध, उड़ता मयूर-पंखी मेघों में अम्बर ।
ज्योत्स्ना में लगते दिगन्त जब स्वप्न-ज्वार-हिल्लोलित,

निखिल प्रदेश मनाता शोभा निर्निमेष शरदोत्सव,
जिस अकथित सम्मोहन का करता अवाक् मन अनुभव,
मुक्त नील तारा स्मित लगता मौन रहस्य निनादित !

राजहंस-सा तिरता शशि मुक्ताभ नीलिमा जल में,
सीपी के पंखों की छहरा रत्न-छटा जल-थल में।
धुली वाष्प पंखड़ियों में रँग भरते कला सुघर कर,

सुरधनु खंडों में किरणों की द्रवित कान्ति कर वितरित,
रंग गन्ध के लता-गुल्म से गिरि-द्रोणी अतिरंजित
देवदारु-रज पीत सुहाती ग्राम-वधू-सी सुन्दर।

हिम-प्रदेश के यमजों-से हेमन्त शिशिर-कम्पित तन
रजत हिमानी से जड देते गिरि-कानन, गृह-प्रांगण,
हिम-परियों की निःस्वर पद-चापों से कर दिशि मुखरित,

निशि के श्यामल मुख पर उज्ज्वल तुहिन-दशन-रेखा भर!
मन्थित करती शीत वात शाखाओं के वन-पंजर,
मुरझाता रवि आतप, दिशि-मुख दिखते धूसर, कुंठित!

स्वर्गहास हिम-पात! – शुभ्रता में अनिमेष दिगन्तर,
उड़ता राज-मराल गौर हर्षातिरेक में निःस्वर!
दिव्य रूप धरती निसर्ग-श्री दुग्ध-धौत भूतल में,

स्वप्न मौन ज्योत्स्ना-सी निर्मल स्फटिक शान्ति में मूर्तित।
उड़ते रंगों के नृप, लोमश हिम खग, रवि-कर चित्रित,
स्वर्गिक पावनता करती अभिसार मुग्ध दिशि पल में!

कौन तुम्हारी शोभा शब्दों में कर सकता कल्पित?
तुम निसर्ग-सम्राट, रूप-गरिमा प्रतिपल परिवर्तित!
निभृत कक्ष में रंग प्रकृति नित सज शृंगार मनोहर

सुरधनु पट स्मित, तड़ित चकित, करती शिखरों पर नर्तन ।
तलहटियों में रँग-रँग के वन-फूलों से मुकुलित तन,
नव पल्लव-अंचल में लिपटी वन-श्री मन लेती हर ।

मखमल के तल्पों-से श्यामल तरल खेत लहराये,
रोमांचित-से गिरि-वन चीड़ों की सूची से छाये,
देवदारु वन-देवों के हर्म्यों के स्तम्भों-से स्थित ।

घनी बाँझ की बनी मोहतीं हरित-शुभ्र मर्मर भर,
शृंगों के दृढ़ आयामों की पृष्ठभूमि में अम्बर
लगता शाश्वत नील शान्ति-सा नीरव, ध्यानावस्थित ।

विहगों के स्वर उर में अलिखित गीतों के पद बनते,
तरु-वन के अस्फुट मर्मर में भाव अचेतन छनते,
क्षिप्र मुखर स्रोतों में रहते अगणित छन्द तरंगित ।

मूर्त प्रेरणा-सी लहराती नभ में शतधा विद्युत् ,
साँझ-प्रात के कांचन तोरण किसे न लगते अद्भुत ,
रजत मुकुर सरसी में हँसता मुख अनन्त का बिम्बित ।

तैल चित्र-सी उभरी गहरी शैल-श्रेणि छायांकित
उड़ते मेघों के घन तन्द्रिल धूप-छाँह से गुम्फित,
स्वर्गिक कोणों, वर्तुल शोभा क्षितिजों में छहरायी—

रश्मि वाष्प की सृष्टि-सहस्रों रंगों से भर जाती,
ताम्र-हरित नीलारुण स्वर्णिम शिखरों पर मँडराती
धुली साँझ की भाव-लीन हलकी कोमल परछाँई ।

शिखरों पर उन्मुक्त साँस ले, स्निग्ध रेशमी मारुत
सहज लिपट जाता तन-मन से, गन्ध-मधुर, मन्थर द्रुत,
वाष्प-मसृण, नीहार-नील, हिम-शीतल, किसलय-कम्पित !

रजत तुषार सरों में थर्-थर् कँपता निर्मल अम्बर,
आदि सृष्टि संगीत सतत बहता शृंगों से झर-झर
स्वच्छ चेतना के स्रोतों में, गिरि-गहनों में मुखरित ।

तृण-कोमल पुलिनों पर क्षण-भर लेट उच्च समतल में
नाम-हीन गन्धों से तन्द्रिल तरु-छाया अंचल में,
गा उठता मन मुक्त स्वरों के पंख खोल निर्जन में ।

कुदक निकट ही शशक कुतरते नव गुल्मों के कोंपल,
शाखा शृंगों वाले वन-मृग पीते झरनों का जल,
मँडराती, निश्चल, आतप-प्रिय चील सुदूर गगन में !

मृदु कलरव भर रँग-रँग के खग वन-परियों के कुसुमित
क्रीडा-कुंजों को रखते सुर वीणाओं से झंकृत,
गीत वृष्टि कर तरु के नभ से मोहित वन अटनों पर !

सद्यः स्वर्णिम नवल प्रवालों का रँग, हिम से पोषित,
प्रथम उषा के अंगराग-सा लगता शाश्वत लोहित,
मधु मर्मर में कँपते वन के अगणित वर्णों के स्वर ।

उदयाचल पर, कनक चक्र-सा, रश्मि स्फुरित रवि उठ कर
दिग् भास्वर ऊषाओं से आरोहों को देता भर,
सन्ध्या के नत मस्तक पर रक्तोज्ज्वल मणि-सा विजड़ित ।

दिव्य छत्र-सा रजत व्योम किरणों से विरचित ऊपर
रत्न पीठ-सा सानु सुहाता नीचे श्यामल सुन्दर,
इन्द्रनील गोलार्द्ध जड़ित मरकत मन्दिर-सा शोभित !

आदि महत्ता पशु-जग की अब भी वन करते घोषित,
सिंह, ऋक्ष, वृक, गिरि-खोहों को रखते भीम निनादित;
चकित, चौकड़ी-भीत मृगों पर झपट टूटते नाहर !

श्वेत, नील, काले उपलों से कंठ वृषों के भूषित,
भेड़ों की घंटी से रहतीं गिरि-डगरें कल-गुंजित,
उच्च शाद्वलों से छनते चरवाहों के मुरली स्वर !

सुघर कृषक-वधुएँ नित खेतों में सोना उपजातीं,
कंठ मिला जन के सँग कृषि के गीत हुड़कु पर गातीं,
त्योहारों में नाच-गान रंगों के रच बहु उत्सव !

नीलारुण किरणों में पलते स्वस्थ सौम्य नारी-नर
गौर कपोलों में ऊषा की लाली लिये मनोहर,
लज्जारुण लगतीं जिस से अज्ञात-यौवनाएँ नव !

उग्र कराल शिलाएँ भरतीं मन में विस्मय सम्भ्रम,
घोर अँधेरी गहरी दरियों में बसता आदिम तम,
स्फीत नाद भर बहते ढहते जल-स्तम्भों से निर्झर !

निबिड़ गहन में सहसा जगमग जल उठते पट-बीजन
हिंस्र व्याघ्र के विस्फारित हरिताभ भयावह लोचन,
सँकरी घाटी में सर्पों-से स्रोत सरकते सरमर !

२०

झीने कम्पित नील कुहासों से परिवृत हो सत्वर
बृहत् गरुत्-सा धँसता नभ में पंख मार गिरि-प्रान्तर,
अर्द्ध-दृश्य गन्धर्व लोक-सा, छाया-पथ में शोभित !

भ्रू-विलास करतीं चपलाएँ, मन्द हास कर प्रतिक्षण,
मुग्ध बलाकों के सँग नभ में उड़ता इच्छाकुल मन;
चीर वाष्प-पट कढ़ता शशि-सा रवि, किरणों से विरहित !

हिम के कंचन प्रात, साँझ पावस पंखों पर चित्रित,
स्वच्छ शरद चन्द्रिका, दिवस मधु के—क्षितिजों पर मुकुलित,
मर्मर ग्रीष्म समीर लुभाती सौरभ-मन्थर, शीतल !

अप्सरियों की पद चापों से कँपते झिलमिल सरि-सर,
नृत्य चपल वनश्री के हित नित बिछते कलि किसलय झर,
रंग, गन्ध, मधु, रज से रहता भू-लुंठित छायांचल !

अमरों के मणि मुकुट श्रेणि-से लगते हेम-शिखर स्मित
रजत नील नभ-नीहारों से रहते जो चिर-वेष्टित,
इन्द्रधनुष छायांशुक का प्रिय उत्तरीय छहरा कर !

कल-किंकिणि-सी विद्युल्लेखा दिपती कटि पर कम्पित,
मन्द्र स्तनित भर मुरज बजाते घन गन्धर्वों-से नित,
स्वतः दीप्त ओषधियों से नीराजन करते किन्नर !

यह भौतिक ऐश्वर्य शुभ्र गरिमा से मन को छू कर
नीरव आध्यात्मिक विस्मय से अन्तर को देता भर,
एक महत् गुण अन्य गुणों को करता नित आकर्षित !

जग-जीवन का क्रन्दन-शोषण हो जाता तुम में लय,
जगता प्राणों में अनन्त भावों का वैभव अक्षय,
ऊर्ध्वारोही मौन शान्ति में भू-मन को कर मज्जित।

अब मैं समझ सका महत्त्व इन शिखरों का स्वर्गोन्नत
नील मुक्ति में समाधिस्थ जो अन्तर्नभ में जाग्रत,
पृथ्वी के शाश्वत प्रहरी-से अन्तरिक्ष में शोभित!

जहाँ शुभ्र सोपानों पर चैतन्य विचरता पावन,
स्वर्णिम आकाशों में उड़ता अपलक शोभा में मन,
उच्च नभस्वत में रहता संगीत अनश्वर गुंजित!

मुखरित तलहटियों को, निःस्वर क्षितिजों को अतिक्रम कर
सात्त्विक शिखरों में जग, मानस में श्रद्धा सम्भ्रम भर,
स्वर्ग धरा के मध्य शुभ्र दिग् विशद समन्वय-से स्थित,

भू से रूप-विधान, व्योम से सार-भाव ले निर्मल,
श्यामल, प्राणोज्ज्वल रखते तुम जग का उर्वर अंचल,
आरोहों के वैभव से अवरोहों को कर कुसुमित!

अप्रकेत तम-सागर से उठ, भेद अचेतन के स्तर,
जल-थल की अगणित उपचेतन जीव-योनियों को तर,
जीवन हरित प्रसार पार कर, रजत देश बहु समतल,

ऊर्ध्वग उच्छ्रायों के निर्मल नीहारों में नीरव
सत् रज के सतरँग आभासों का कर मन में अनुभव,
शाश्वत शिखरों में निखरें तुम लगते शान्त समुज्ज्वल।

रुके मूक भू-मानस गह्वर, रुके स्तब्ध गिरि-कन्दर,
(शतियों के पुंजित तमिस्र से पीड़ित जिन का अन्तर !)
    खिंचे प्रतीक्षा में प्रसार होने को तुम से दीपित !

धूमिल क्षितिज, गरजता अम्बर, उद्वेलित जन-सागर,
जड़-चेतन की दृष्टि निर्निमिष लगी ज्योति शिखरों पर,
    मानवता का दिक्-प्रशस्त उन्नयन तुम्हीं पर आश्रित !

निश्चय, भूमा की आकृति में यह मृण्मय भू निर्मित,
अन्न, प्राण-मन-जीवन के अक्षय वैभव से झंकृत,
    हरित प्रसारों, नीलोच्छ्रायों, स्वर्ण गहनताओंमय !

यशश्चूड़ तुम इस वसुधा के शाश्वत रश्मि मुकुटभृत,
दिक् शय्या पर चिदानन्द-से कालोपरि सत् पर स्थित,
    ध्यानावस्थित ऊर्ध्व भाल पर नव लेखा शशि स्मित, जय !

['प्रतिमा' से]

इलाचन्द्र जोशी [ज० १९०२]

प्रथम वर्षा

दो दिन पहले था श्मशान का तप्त भस्म छितराया,
नागन-सी फुफकार रही थी ज्वाला;
किस प्रलयंकर लीला से था नभमंडल इतराया !
प्रकृति बनी थी संहरिणी, विकराला ।

आज हुआ मंगल-अभिसेचन सघन घटामय नभ से,
द्रवित हुई है किस की अभिनव करुणा !
गिरि-उपत्यका है आमोदित नन्दन-वन-सौरभ से,
नव-विवाह उत्सव से कुसुमाभरणा ।

किस संजीवन-रस-सिंचन-कृत संचारित कम्पन से
मुकुलित होकर पुलकित है यह धरणी;
भीनी-भीनी सरस सुरभिमय रभस-विभासित वन से
हुई उच्छ्वसित आशा जीवन-भरणी ।

प्रथम-यौवना वनस्थली है नव-वेदन-उत्कंठित
लिये हाय ! निज कंटककीर्ण प्रखरता;
क्षणिक दिखा यौवन फिर होती कुज्झटिका-अवगुंठित
नव-जल-कण से उस का रूप निखरता ।

झर-झर रव से मुखरित निर्झर किस अनन्त में जा कर
लय होने के लिए विकल बिललाया !
शोष-शोष कर हरण करेगा निठुर कौन रत्नाकर
मुक्ता-सम उस के जल-कण की माया !

कल-कल, विकल, विताल-विताड़ित उस की गति का यौवन
फेनिल धारा कठिन शिला-संघाता
कम्पित करते हैं मम हिय में प्रतिपल पुलक प्रलोभन
अविरल रोदन क्या वेदन उसकाता !

नवल कुंजतल-वाही गदगद विह्वल पुंज-सलिल से
उथल रही यह कैसी छल-छल भाषा !
महक उठी है जुही सुवासित अलसित गन्धानिल से
किस के तप्त बिरह की व्याकुल श्वासा !

मोर, पपीहा, झींगुर, दादुर मिलित राग के स्वर से
गाते हैं सब ओर निराली लोरी;
झूम रही है निखिल प्रकृति मृदु मन्द मधुर किस ज्वर से
तन्द्रिल रस से होकर बरबस भोरी !

सिहर-सिहर कर कानन मर्मर की थर-थर लहरी से,
कहाँ बज रही किस रसिया की बंसी !
उड़ती है उत्सुक हो कर मिलने किस तरुण परी से
सघन गगन में दल-बल लेकर हंसी !

अविज्ञात उल्लास-विधुर हो प्रकृति बनी मदमाती
पर बढ़ती जाती है मेरी चिन्ता;

किस असीम के पार मुझे मम कौन प्रिया तरसाती !
मैं अनन्त के पल हूँ प्रतिदिन गिनता।

चिर-विरही मुझ परदेशी को कौन दुःखिनी नारी
मेरी आशा में बैठी है विमना ?
किस तीखी केतकी-कँटीली उत्कंठा से प्यारी
बाट जोहती होगी उत्सुक नयना !

कितने युग से आशा कर के हो कर अकथित-थकिता
करती होगी वह निशि-दिन जल-मोचन;
अपनी स्मृति से भीता हरिणी-सी प्यारी अति चकिता—
सजल कर रही है मेरे भी लोचन।

मुझे ले चलो अपने सँग हे उन्मद हंस-बलाका !
चिदानन्द हे मानस-पथ-गामी !
निरखूँ फिर से रूप विमोहन प्यारी हिम-बाला का
मैं अतीत सुख स्वप्नों का अनुकामी।

वर्ष-वर्ष तुम वर्षा के उल्लास जनित उत्सव से
किस आशा से होकर पुलकित हर्षित
स्निग्ध स्नेहमय चिर प्रिय गृह की ओर विकल कलरव से
मत्त वेग से होती हो आकर्षित !

करती रहती हो दर्शन नव वर्षा में प्रतिवत्सर
तुम उस चिर-अभिनूतन प्रियतम जग का,
भूल गया हूँ, पता नहीं पाता हूँ, पर मैं क्यों कर
चिर-परिचित उस माया-मानस-मग का ?

['विजनवती' से]

सुभद्राकुमारी चौहान [१९०४-१९४८]

शिशिर-समीर

शिशिर-समीरण ! किस धुन में हो,
कहो किधर से आती हो ?
धीरे-धीरे क्या कहती हो ?
या यों ही कुछ गाती हो ?

क्यों खुश हो ? क्या धन पाया है ?
क्यों इतना इठलाती हो ?
शिशिर-समीरण ! सच बतला दो,
किसे ढूँढ़ने जाती हो ?

मेरी भी क्या बात सुनोगी,
कह दूँ अपना हाल सखी ?
किन्तु प्रार्थना है, न पूछना,
आगे और सवाल सखी !

फिरती हुई पहुँच तुम जाओ,
अगर कभी उस देश, सखी !
मेरे निठुर श्याम को मेरा
दे देना सन्देश सखी !

मिल जावें यदि तुम्हें अकेले,
हो ऐसा संयोग सखी !

किन्तु देखना वहाँ न होवें
और दूसरे लोग सखी !

खूब उन्हें समझा कर कहना
मेरे दिल की बात सखी !
विरह-विकल चातकी मर रही
जल-जल कर दिन-रात सखी ।

मेरी इस कारुण्य दशा का
पूरा चित्र बना देना ।
स्वयं आँख से देख रही हो
यह उन को बतला देना ।

दरस-लालसा जिला रही है,
कह देना समझा देना ।
नासमझी यदि कहीं हुई हो
तो उस को सुलझा देना ।

कहना किसी तरह वे सोचें
मिलने की तदबीर सखी !
सही नहीं जाती अब मुझ से
यह वियोग की पीर सखी ।

चूर-चूर हो गया हृदय यह
सह-सह कर आघात, सखी !
शिशिर-समीरण भूल न जाना
कह देना सब बात सखी ।

['मुकुल' से]

२१

स्वागत-साज

उषे सजनि ! अपनी लाली से
आज सजा दो मेरा तन,
कला सिखा लिखने की कलिके !
विकसित कर दो मेरा मन ।

हे प्रसून-दल ! अपना वैभव
बिखरा दो मेरे ऊपर,
मुझ-सी मोहक और न कोई
कहीं दिखाई दे भू पर ।

माधव ! अपनी मनोमोहनी
मधु-माया मुझ में भर दो,
पल-भर को कर कृपा सजीले !
मुझ को भी सज्जित कर दो ।

अरी विहंगिनि ! गर्वीली,
ओ ऋतुपति के प्राणों की प्राण
हे कलकंठ ! सिखा दे पल भर
के ही लिए मुझे कल-गान ।

अरी मयूरी ! नर्तन तेरा
मोहित करता है घन को,
मुझे सिखा दे कला, मोह लूँ
मैं अपने मन के घन को।

सखि ! मेरे सौभाग्य-सदन में
लाली छा जायेगी आज,
वे आयेंगे, मुझे सजा दो
दे-दे कर तुम अपना साज।

उस महान वैभव के आगे
मैं भी ठहर सकूँ क्षण-भर।
उस विशालता के सम्मुख सखि !
मेरा भी कुछ हो कण-भर।

['नक्षत्र' से]

रामकुमार वर्मा [ज० १९०५]

चचाई का प्रपात

पश्चिम नभ में डूबता सूर्य,
'बीहर' का अविरत तरुण तूर्य
गुंजित है, प्रणत शिलाओं के समतल पर
जल फैला है ज्यों शिशु के तन पर
होता है शैशव का प्रसार।
लघु-लघु विवरों से चपल धार
है बिखर रही पा मुक्त द्वार,
जैसे कोई मुख फेर, हँसी की
ध्वनि में कह दे शब्द चार।

वह समतल जैसी शिला भूमि
कुछ तनी हुई है आस-पास,
जैसे उर को फैला देती है,
गहरी रोकी हुई साँस,
कुछ उभरे थल जल-रहित
शेष निर्मल जल में सम्पूर्ण लीन,
जैसे अँगड़ाई लेती-सी कोई
सित-वसना रति-प्रवीण।

यह 'बीहर' लिपट-लिपट पाषाणों से
कहती है अश्रु-कथा,
'मैं पतनोन्मुख हो रही
चल रही मेरी गति के साथ व्यथा'
यह बढ़ी—'निराश्रित गिरी—
ओह ! यह मृत्यु-कूप की गहराई ।
जैसे पर्वत के विकट वदन ने
ली हो गहरी जमुहाई ।

यह नीचापन—क्या हिम-श्रृंगों ने
उलट अतल को नाप लिया ?
यह है दरिद्र का भाग्य ! किसी ने
खींच विहागालाप लिया ।
यह जल-प्रपात ! ऊपर से नीचे तक
जल की विचलित धारा,
यह महाशब्द जैसे कि भाग्य ने
भू से नभ तक हुंकारा ।

भय से जल जैसे श्वेत हुआ
धारों-धारों में बिखर चला,
जैसे पृथ्वी का कलुष पतन की
गति में सहसा निखर चला ।

यह पतन भाग्य का सत्य,
भयानकता में सुषमा उठी जाग,
यह लम्बी शुभ्र धार जल की
जैसे कि राग में हो विराग,

या अन्तरिक्ष से भू तक कोई
सुर-बाला हो भावातुर,
है नाच रही सु-मधुर,
सु-मधुर, सु-मधुर, सु-मधुर, सु-मधुर।

ये जल के कण उज्ज्वल बन कर
ले पवन-यान नीचे आते,
जैसे शोभा के धूमकेतु
ले ज्योति-रेख चक्कर खाते,
या नभ-गंगा नभ में न समा
पृथ्वी पर गिरने आयी है,
या दुर्दिन के काले गह्वर में
आशा-किरण समायी है।

यह जलप्रपात ! क्या जग में है
सौन्दर्य पतन का सूत्रधार ?
यह कितना गौरवपूर्ण पतन !
जिसमें न हार रह गयी हार,
मेरा उत्थान न कण-भर भी,
पा सका पतन का यह प्रताप,
चेतन पर जड़ की विजय
आज मैं देख रहा हूँ मौन आप।

मैं इस प्रपात का जल-कण बन
उज्ज्वलता का परिधान पहिन
बहता जाऊँ—बहता जाऊँ—
कितने ही दिन कितने ही दिन,

पाने असीम जल का संगम
ओ मानव तू सुख-दिन गिन-गिन,
पत्थर की जड़ता में सिमटा
तू भूल गया है सब, लेकिन।

जा देख खोल दृग यह प्रपात,
यह पतन सृष्टि का दिव्य हास।
जड़ बरसों तक सिखलावेगा
तुझ को चेतन का रम्य रास,
तू पतन बना दे छबिशाली,
तू निखर कलुष से वीतराग,
बन लहर, उठा दे तू विप्लव
भैरव हो तेरा एक राग।

तू बन प्रपात का तीव्र वेग
तू बन प्रपात का मध्य भाग,
तू गिरि-गह्वर को तोड़-फोड़
सागर तक ले जा तरल आग,
फिर तेरा पतन बनेगा कितने
उत्थानों का निर्माता,
यह कवि तेरे गुण गायेगा
इस ओर कभी आता-जाता।

यह छाया क्यों बढ़ चली ?
अरे, पश्चिम में डूबा अरुण सूर्य।
'बीहर' का अविरत तरुण तूर्य

गुंजित है शून्य दिशाओं से
आती है अब प्रतिध्वनि केवल ।
छिप गया चचाई का प्रपात,
पा कर सन्ध्या का पट श्यामल ।

['आकाशगंगा' से]

महादेवी वर्मा

[ज० १९०७]

संसार

निश्वासों का नीड़, निशा का
बन जाता जब शयनागार,
लुट जाते अभिराम छिन्न
मुक्तावलियों के बन्दनवार,
तब बुझते तारों के नीरव नयनों का यह हाहाकार,
आँसू से लिख-लिख जाता है 'कितना अस्थिर है संसार।'

हँस देता जब प्रात, सुनहरे
अंचल में बिखरा रोली,
लहरों की बिछलन पर जब
मचली पड़तीं किरणें भोली,
तब कलियाँ चुप-चाप उठा कर पल्लव के घूँघट सुकुमार,
छलकी पलकों से कहती हैं 'कितना मादक है संसार।'

देकर सौरभ दान पवन से
कहते जब मुरझाये फूल,
'जिस के पथ में बिछे वही
क्यों भरता इन आँखों में धूल ?'
'अब इनमें क्या सार' मधुर जब गाती भौंरों की गुंजार,
मर्मर का रोदन कहता है 'कितना निष्ठुर है संसार।'

२२

स्वर्ण-वर्ण से दिन लिख जाता
जब अपने जीवन की हार,
गोधूली, नभ के आँगन में
देती अगणित दीपक बार,
हँस कर तब उस पार तिमिर का कहता बढ़-बढ़ पारावार,
'बीते युग, पर बना हुआ है अब तक मतवाला संसार।'

स्वप्नलोक के फूलों से कर
अपने जीवन का निर्माण,
'अमर हमारा राज्य' सोचते
हैं जब मेरे पागल प्राण,
आ कर तब अज्ञात देश से जाने किस की मृदु झंकार,
गा जाती है करुण स्वरों में 'कितना पागल है संसार।'

['नीहार' से]

●

रश्मि

चुभते ही तेरे अरुण बान।

बहते कन-कन से फूट-फूट,
मधु के निर्झर से सजल गान।

इन कनक-रश्मियों में अथाह,
लेता हिलोर तम-सिन्धु जाग :

बुद्बुद से वह चलते अपार,
उस में विहगों के मधुर राग;

बनती प्रवाल का मृदुल कूल,
जो क्षितिज-रेख थी कुहर-म्लान ।

नव कुन्द-कुसुम से मेघ-पुंज,
बन गये इन्द्रधनुषी वितान;
दे मृदु कलियों की चटक, ताल,
हिम-बिन्दु नचाती तरल प्राण,

धो स्वर्णप्रात में तिमिर गात,
दुहराते अलि निशि-मूक तान ।

सौरभ का फैला केश-जाल,
करतीं समीर-परियाँ विहार,
गीली केसर-मद झूम-झूम,
पीते तितली के नव कुमार;

मर्मर का मधु संगीत छेड़
देते हैं हिल पल्लव अजान ।

फैला अपने मृदु स्वप्न-पंख,
उड़ गयी नींद निशि-क्षितिज-पार;
अधखुले दृगों के कंज-कोष पर
छाया विस्मृति का खुमार;

रँग रहा हृदय ले अश्रु-हास,
यह चतुर चितेरा सुधि-विहान ।

['रश्मि'से]

महादेवी वर्मा

वसन्त-रजनी

धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त-रजनी ।
तारकमय नव-वेणी-बन्धन,
शीश-फूल कर शशि का नूतन,
रश्मि-वलय सित घन-अवगुंठन,
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे चितवन से अपनी ।
पुलकती आ वसन्त-रजनी ।
मर्मर की सुमधुर नूपुर-ध्वनि,
अलि-गुंजित पद्मों की किंकिणि,
भर पद-गति में अलस-तरंगिणि,
तरल रजत की धार बहा दे, मृदु स्मित से सजनी ।
विहँसती आ वसन्त-रजनी ।
पुलकित स्वप्नों की रोमावलि,
कर में हो स्मृतियों की अंजलि,
मलयानिल का चल-दुकूल अलि !
घिर छाया-सी श्याम, विश्व को आ अभिसार बनी ।
सकुचती आ वसन्त रजनी ।
सिहर-सिहर उठता सरिता-उर,
खुल-खुल पड़ते सुमन सुधा-भर,
मचल-मचल आते पल फिर-फिर,
सुन प्रिय की पद-चाप हो गयी पुलकित यह अवनी ।
सिहरती आ-वसन्त-रजनी ।

['नीरजा' से]

ओ विभावरी !

ओ विभावरी !
चाँदनी का अंगराग,
माँग में सजा पराग,
रश्मि-तार बाँध मृदुल चिकुर-भार री !
ओ विभावरी !

अनिल घूम देश-देश,
लाया प्रिय का सँदेश,
मोतियों के सुमन-कोष वार, वार री !
ओ विभावरी !

ले कर मृदु ऊर्म्मिवीन,
कुछ मधुर, करुण, नवीन,
प्रिय की पदचाप-मदिर गा मलार री !
ओ विभावरी !

बहने दे तिमिर भार,
बुझने दे यह अँगार,
पहिन सुरभि का दुकूल बकुल-हार री !
ओ विभावरी !

['नीरजा'से]

'बच्चन' (हरिवंशराय) [ज० १९०७]

मयूरी

मयूरी, नाच, मगन-मन नाच !

गगन में सावन-घन छाये,
न क्यों सुधि साजन की आये,

मयूरी, आँगन-आँगन नाच ।
मयूरी, नाच, मगन-मन नाच !

धरणि पर छायी हरियाली,
सजी कलि-कुसुमों से डाली,

मयूरी, मधुवन-मधुवन नाच ।
मयूरी, नाच, मगन-मन नाच !

समीरण सौरभ सरसाता,
घुमड़ घन मधुकण बरसाता,

मयूरी, नाच, मदिर-मन नाच ।
मयूरी, नाच, मगन-मन नाच !

निछावर इन्द्र-धनुष तुझ पर
निछावर प्रकृति, पुरुष तुझ पर,
मयूरी, उन्मन-उन्मन नाच।

मयूरी, छूम-छनाछन नाच।
मयूरी, नाच, मगन-मन नाच!

['सतरंगिनी' से]

सन्ध्या-वेला

बीत चली सन्ध्या की वेला।

धुँधली प्रति पल पड़ने वाली,
एक रेख में सिमटी लाली
कहती है, समाप्त होता है सतरंगे बादल का मेला।
बीत चली सन्ध्या की वेला।

नभ में कुछ द्युति हीन सितारे
माँग रहे हैं हाथ पसारे
'रजनी आये, रवि किरणों से हम ने है दिन-भर दुख झेला।'
बीत चली सन्ध्या की वेला।

अन्तरिक्ष में आकुल आतुर,
कभी इधर उड़, कभी उधर उड़
पन्थ नीड का खोज रहा है पिछड़ा पंछी एक अकेला।
बीत चली सन्ध्या की वेला।

['निशा-निमन्त्रण'से]

•

प्राण सन्ध्या झुक गयी

प्राण, सन्ध्या झुक गयी गिरि, ग्राम, तरु पर,
उठ रहा है क्षितिज के ऊपर सिन्दूरी चाँद—
मेरा प्यार पहली बार लो तुम।

सूर्य जब ढलने लगा था कह गया था;
मानवो, खुश हो कि दिन अब जा रहा है,
जा रही है स्वेद, श्रम की क्रूर घड़ियाँ,
औ' समय सुन्दर, सुहाना आ रहा है।
छा गयी है शान्ति खेतों में, वनों में
पर प्रकृति के वक्ष की धड़कन बना-सा,
दूर, अनजानी जगह पर एक पंछी
मन्द लेकिन मस्त स्वर से गा रहा है,
औ' धरा की पीन पलकों पर विनिद्रित
एक सपने-सा मिलन का क्षण हमारा,

स्नेह के कन्धे प्रतीक्षा कर रहे हैं,
झुक न जाओ और देखो उस तरफ़ भी :

प्राण, सन्ध्या झुक गयी गिरि, ग्राम, तरु पर
उठ रहा है क्षितिज के ऊपर सिन्दूरी चाँद--
मेरा प्यार पहली बार लो तुम ।

इस समय हिलती नहीं है एक डाली,
इस समय हिलता नहीं है एक पत्ता,
यदि प्रणय जागा न होता इस निशा में,
सुप्त होती विश्व की सम्पूर्ण सत्ता,
वह मरण की नींद होती जड भयंकर,
और उस का टूटना होता असम्भव,
प्यार से संसार सो कर जागता है,
इसलिए है प्यार की जग में महत्ता,
हम किसी के हाथ में साधन बने हैं,
सृष्टि की कुछ माँग पूरी हो रही है,
हम नहीं अपराध कोई कर रहे हैं,
मत लजाओ और देखो उस तरफ़ भी :

प्राण, रजनी भिंच गयी नभ के भुजों में,
थम गया है शीश पर निरुपम रुपहरा चाँद—
मेरा प्यार बारम्बार लो तुम ।

प्राण, सन्ध्या झुक गयी गिरि, ग्राम, तरु पर,
उठ रहा है क्षितिज के ऊपर सिन्दूरी चाँद—
मेरा प्यार पहली बार लो तुम ।

२३

पूर्व से पच्छिम तलक फैले गगन के
मन-फलक पर अनगिनत अपने करों से
चाँद सारी रात लिखने में लगा था
'प्रेम' जिस के सिर्फ़ ढाई अक्षरों से

हो अलंकृत आज नभ कुछ दूसरा ही
लग रहा है, और लो जग-जग विहग-दल

पढ़ इसे, जैसे नया यह मन्त्र कोई,
हर्ष करते व्यक्त पुलकित पर, स्वरों से,

किन्तु तृण-तृण ओस छन-छन कह रही है,
आ गयी वेला विदा के आँसुओं की,
यह विचित्र विडम्बना पर कौन चारा,
हो न कातर और देखो उस तरफ़ भी :

प्राण, राका उड़ गयी प्रातः पवन में,
ढल रहा है क्षितिज के नीचे शिथिल तन चाँद—
मेरा प्यार अन्तिम बार लो तुम ।

प्राण, सन्ध्या झुक गयी गिरि, ग्राम, तरु पर,
उठ रहा है क्षितिज के ऊपर सिन्दूरी चाँद—
मेरा प्यार पहली बार लो तुम ।

['मिलन-यामिनी' से]

डैफ़ोडिल*

डैफ़ोडिल, डैफ़ोडिल, डैफ़ोडिल—
मेरे चारों ओर रहे हैं खिल,
मेरे चारों ओर हँस रहे हैं खिल-खिल;
इंग्लैंड में है वसन्त—है एप्रिल।
इन का देख के उल्लास,
तुलना को आता है याद,
मुझे अजित और अमित का हास,
जो गूँजता है आध-आध मील—
मेरा भर आता है दिल—
डैफ़ोडिल, डैफ़ोडिल, डैफ़ोडिल—
जो गूँजता है हज़ारों मील,
मैं उसे सुनता हूँ यहाँ,
हँस रहे हैं वे कहाँ—ओ, दूर कहाँ!
बच्चों का हास निश्छल, निर्मल, सरल
होता है कितना प्रबल।

सृष्टि का होगा आरम्भ,
मानव-शिशुओं का उतरा होगा दल,
पृथ्वी पर होगी चहल-पहल।
आल-बाल जब बहुत से हों साथ,
पकड़ के एक दूसरे का हाथ

* गुण-केसरी का फूल।

हँसी की भाषा में करते हैं बात।
उस दिन जो गूँजा होगा नाद,
धरती कभी भूलेगी उस की याद ?
उसी दिन को सुमिर
वह फूल उठती है फिर-फिर,
फूला नहीं समाता उस का अजिर।
आदि मानव का वह उद्‌गार,
निर्विकार,
अफ़सोस हज़ार,
इतनी चिन्ता, शंका, इतने भय, संघर्ष में
गया है धँस,
कि सुनाई नहीं पड़ेगा दूसरी बार;
अफ़सोस हज़ार !
इतना भी है क्या कम,
उस की बनी है यादगार,
डैफ़ोडिल का कहाँ-कहाँ तक है विस्तार !

हरे-हरे पौधों,
हरी-हरी पत्तियों पर
सफ़ेद-सफ़ेद, पीले-पीले,
रुपहरे, सुनहरे फूल सँवरे हैं,
आसमान से जैसे
तारे उतरे हैं।
आता है याद,
कश्मीर में डल पर
निशात, शालामार तक
नाव का सफ़र,

इतने फूले थे कमल
कि नील झील का जल
उन के पत्तों से गया था ढक,
पत्ते-पत्ते पर पानी की बूँद
ऐसी रही थी झलक,
जैसे स्वर्ग से
मोती पड़े हों टपक;
सुषमा का यह भंडार
देख के, झिझक,
मैंने अपनी आँखें ली थीं मूँद ।
बताने लगा था मल्लाह,
बहुत दिनों की है बात,
यहाँ आया एक सौदागर,
लोभी पर भोला,
उसे ठगने को किसी का मन डोला,
सेठ से बोला,
ये हैं कच्चे मोती—कुछ दिन में जायँगे पक ।
ले कर बहुत-सा धन
बेच दिया उस ने मोतियों का खेत
यहाँ से वहाँ तक ।
सेठ ने महीनों किया इन्तज़ार,
लगाता जब भी मोतियों को हाथ,
जाते वे ढलक ।
आख़िरकार हार,
भर-भर के आह
वह गया मर;
उस पार बनी है उस की क़ब्र ।
सुन्दरता पर हो जाओ निसार;

जो उस के साथ करते हैं व्यापार,
उन के हाथ लगती है क्षार।
डैफ़ोडिल का देख के मैदान
वही है मेरा हाल,
हो गया हूँ इस पर निहाल,
मिट्टी की यह उमंग,
वसुन्धरा का यह सिंगार
आँखें पा नहीं रही हैं सँभाल।
मेरे शब्दों में
कहाँ है इतना उन्मेष,
कहाँ है इतना उफ़ान,
कहाँ है इतनी तेज़ी, ताज़गी,
कहाँ है इतनी जान,
कि भूमि से इन की उठान,
कि हवा में इन के लहराव,
कि क्षितिज तक इन के फैलाव,
कि चतुर्दिक इन के उन्माद का
कर सकें बखान।
यह तो करने में समर्थ
हुए थे बस वर्डसवर्थ;
कभी पढ़ा था उन का गीत,
आज मन में बैठ रहा है अर्थ।

•

पर मैं इसे नहीं सकूँगा भूल,
सदा रक्खूँगा याद,
आज और वर्षों बाद,
कि जब अपना घर, परिवार, देश, छोड़
आया था मैं इंग्लैंड,

केम्ब्रिज में रक्खे थे पाँव,
अजनबी और अनजान के समान,
अपरिचित था जब हर मार्ग, हर मोड़,
अपरिचित हर दूकान, मकान, इनसान,
किसी से नहीं थी जान-पहचान,
तब भी यहाँ थे तीन
जो समझते थे मुझे,
जिन्हें समझता था मैं,
जिन से होता था मेरे भाव,
मेरे उच्छ्वास का आदान-प्रदान :
डैफ़ोडिल के फूल
जो देते थे परिचय-भरी मुसकान;
प्रभात की चिड़ियाँ
जो गाती थीं कहीं सुना-सा गान;
और कैम की धारा,
जो विलो की झुकी हुई लता को छू-छू
बहती थी मन्द-मन्द,
क्षीण-क्षीण !

['बुद्ध और नाचघर' से]

'दिनकर' (रामधारी सिंह) [ज० १९०९]

निर्झरिणी

मधु-यामिनी-अंचल-ओट में सोयी थी
बालिका-जूही उमंग-भरी;
विधु-रंजित ओस-कणों से भरी
थी बिछी वन-स्वप्न-सी दूब हरी;
मृदु चाँदनी-बीच थी खेल रही
वन-फूलों से शून्य में इन्द्र-परी,
कविता बन शैल-महाकवि के
उर से मैं तभी अनजान झरी।

हरिणी-शिशु ने निज लास दिया,
मधु राका ने रूप दिया अपना,
कुमुदी ने हँसी, परियों ने उमंग,
चकोरी ने प्रेम में यों तपना।
नभ नील ने जन्म-घड़ी ही में नील
समुद्र का भव्य दिया सपना,
'पी कहाँ' कह प्रेमी पपीहरे ने
सिखलाया मुझे 'पी कहाँ' जपना।

गति-रोध किया गिरि ने, पर, मैं
  द्रुत भाग चली घहराती हुई,
सरकी उपलों में भुजंगिनी-सी
  मैं शिला से कहीं टकराती हुई,
जननी-गृह छोड़ चली, मुड़ देखा
  कभी न उसे ललचाती हुई,
गिरि-शृंग से कूद पड़ी मैं अभय
  'पी कहाँ ?' 'पी कहाँ ?' धुन गाती हुई।

वनभूमि ने दूब के अंचल में
  गिरि से गिरते मुझे छान लिया,
गिरि-मल्लिका कुन्तल-बीच पिरो
  मुझ को निज बालिका मान लिया;
कलियों ने सुहाग के मोती दिये,
  नव ऊषा ने सेंदुर-दान दिया,
जगती को हरी लख मैंने हरी-हरी
  दूबों का ही परिधान लिया।

तट की हिमराशि की आरसी में
  अपनी छवि देख दीवानी हुई,
प्रिय-दर्शन की मधु लालसा में
  पिघली, पलमें धुल पानी हुई।
टकराने चली मैं असीम के वक्ष से,
  रूप के ज्वार की रानी हुई,
उनमाद की रागिनी, बेकली की
  अपनी ही मैं आप कहानी हुई।

२४

जननी-धरणी मुझे गोद लिये
थी सचेत कि मैं भग जाऊँ नहीं,
वन-जन्तुओं के शिशु आन जुटे
कि सखा बिनु मैं दुख पाऊँ नहीं।
थी डरी मैं, पड़ी ममता में कहीं
इस देश में ही रह जाऊँ नहीं,
प्रिय देखे बिना झर जाऊँ न व्यर्थ,
कहीं छवि यों ही गँवाऊँ नहीं।

एक रोज उनींदी हुई जो धरा,
द्रुत भागी मैं आँख बचाती हुई,
वन-वल्लरी-अंचल-बीच कहीं
तृण-पुंज में वेश छिपाती हुई।
निकली द्रुम-कुंज की छाँह से तो
मैं चली फिर से घहराती हुई,
सिकता-से पिपासित विश्व के कंठ में
स्वर्ग-सुधा सरसाती हुई।

वनदेवि ! द्रुमांचल श्याम हिला
फिरने का करो न इशारा मुझे,
उपलो ! पद यों न गहो, भुज खोल
न बाँध, तू हाय ! किनारा ! मुझे।
किस की ध्वनि दूर से आयी ? पुकार
रहा सुनि अम्बुधि प्यारा मुझे,
जननी धरणी ! तिरछी हो जरा,
अरी ! वेग से खींच तू धारा मुझे।

अभिसारिका मैं मिलने हूँ चली,
प्रिय-पन्थ रे, कोई बताना ज़रा,
किस शूली पै मीरा-पिया की है सेज ?
इशारों से कोई दिखाना ज़रा।
पथ-भूली-सी कुंज में राधिका के
हित श्याम ! तू वेणु बजाना ज़रा,
तुझ में प्रिय ! खोने को तो आ रही,
पर, तू भी गले से लगाना ज़रा।

['रेणुका' से]

●

अमा-सन्ध्या

नीरव, प्रशान्त जग, तिमिर गहन।
रुन-झुन रुन-झुन किस का शिंजन ?
किस की किंकिणि-ध्वनि ? मौन विश्व में झनक उठा किस का कंकण ?
झिल्ली-स्वन ? सन्ध्या श्याम परी की हृदय-शिराओं का गुंजन ?
रुन-झुन रुन-झुन किस का शिंजन ?

अन्तिम किरणें भर गयीं उर्मि-
अधरों में मोती के चुम्बन,
वन-कुसुम वृन्त पर ऊँघ रहे,
दूर्वा-मुख सींच रहे हिम-कण।
रुन-झुन रुन-झुन किस का शिंजन ?

नीलिमा-सलिल में अमा खोल
कलिका-गुम्फित कबरी-बन्धन,
लहरों पर तिरती मग्न विसुध
कर रही व्योम में अवगाहन।
रुन-झुन रुन-झुन किस का शिंजन ?

मुक्ता कुन्तल में गूँथ, शुक्र का
पहन कुसुम-कर्णाभूषण,
दिग्वधू क्षितिज पर बजा रही
मंजीर, चपल कँप रहे चरण।
रुन-झुन रुन-झुन किस का शिंजन ?

यह भुवन-प्राण-तन्त्री का स्वन ?
लघु तिमिर-वीचियों का कम्पन ?
यह अमा-हृदय का क्या गुनगुन ?
किस विरह-गीत का स्वर उन्मन ?
रुन-झुन रुन-झुन किस का शिंजन ?

['रेणुका' से]

'केसरी' (कलक्टर सिंह) [ज०]

कदम्ब

प्राण ! आज पावस के नभ में उमड़ी-घिरी बदरिया,
अवनी से अम्बर तक फैली सुधि की एक चदरिया,
स्मृतियों के राजा ! अनन्त इन विरहवन्त प्राणों की
आज भरेगी स्वप्न-सीकरोंसे चिर शून्य गगरिया ।
भादो की निशि तिमिर-ताल में तैर रही रंगीनी,
फुहियों से भीगी पुरवैया बहती भीनी-भीनी
होस्टल की बत्तियाँ बुझ चुकीं छात्र सभी सोये हैं—
दूर कहीं से एक रोशनी आती झीनी-झीनी ।
शान्त सुप्त कालेज भवन-नीरव निशीथ की वेला
जाग रहे बस हम दो—मैं, मेरा कदम्ब अलबेला,
पीर-भरी कसमसवाली पुरवैया की लहरों में—
कहाँ नींद उस प्राणी को जो विरही एक अकेला ।
इस निशि के गहरे प्रहरों में चमकी तड़ित्-शलाका
देखो, यह खिंच गया गगन-मण्डल में किस का खाका ?
हे कदम्ब ! यह अमा जगत के नयनों में अँधियाली
किन्तु हमारे स्वप्नों की फुलझड़ियों की यह राका ।
सुनो, आ रही धुनि वंशी की कहीं सुदूर गगन से,
जिस के स्वर-समुद्र में डूबे तारे चाँद मगन-से
यह झिल्ली-झंकार नहीं, है जिस से व्याप्त दिशाएँ,
ये झुनझुन बज उठीं पायलें पृथ्वी के कण-कण से ।

पुलक-भरी गोरी रस बोरी पृथ्वी राधा-रानी
शून्य पहर मिल रही पिया से पहन चूनरी धानी;
मिलन पर्व यह अङ्ग-अङ्ग पृथ्वी का फूला-फूला
और स्निग्ध घनश्याम नयन में उमड़ा छल-छल पानी।

लो रिमझिम की बजी बाँसुरी, प्रिय कदम्ब अब झूलो
खोल पलक-पल्लव प्रियतम घनश्याम काम-छवि पी लो
यह वर्षा त्यौहार स्वप्न अभिसार न खाली जाये—
कल प्रभात में राशि-राशि तुम वृन्त-वृन्त में फूलो!

['कदम्ब' से]

सरिता के प्रति

सजनि ! कहाँ से बही आ रही, चली किधर किस ओर ?
किस के लिए मची है हिय में, यह व्याकुलता घोर ?

अगणित हृदयों में छेड़ी है मूक व्यथा अनजान,
कितने ही सूनेपन का, कर डाला है अवसान ।

बिछा प्रकृति का अंचल सुन्दर तेरा स्वागत सार,
चूम-चूम कर वृक्ष झूमते, ले-ले निज उपहार ।

सतत तुम्हारे मन-रंजन को विहग करें कल्लोल,
तुझे हँसाने को ही निशि-दिन बोलें मीठे बोल !

बुझते जाते धीरे-धीरे नक्षत्रों के दीपक,
स्नेहशून्य हो कर के मानो दिखलाते-से हैं पथ ।

नीरव-कुंज हुए, मुखरित सुन तव निनाद—गम्भीर
मतवाले प्यासे पी तुझ को होते अधिक अधीर ।

कितने निर्झर दिखा चुके हैं तुझ को निज हिय-चीर,
किन्तु न भरता उन से तेरा शोक उदधि गम्भीर ।

किसके हित सकरुण विहाग-सम अविश्रान्त यह रोदन ?
नीरस प्रान्तों में बखेरती, क्यों अपना भीगा-मन ?

क्या आगे बढ़ कर पाओगी अपने चिर-आराध्य ?
चलो, चलें, तब मिल कर सजनी ! मिटे हृदय की साध ।

['अन्तर्वेदना'से]

जयकिशोर नारायण सिंह [ज० १९१२]

तरंग

सजनि ! मत्त ग्रीवालिंगन में कर शत-शत शृङ्गार,
मिलने आ कर खिंच जाती फिर किस व्रीडा के भार ?
अगणित कण्ठोंसे गा-गा कर अस्फुट मौलिक गान,
प्रात पहन कर तरणि-किरण का तितली-सा परिधान,
बुद्बुद-दल की दीपावलि में भर-भर स्नेह अपार,
तिमिर-नील शैवाल-विपिन में करती नित अभिसार ।
बरवै छन्दों-सी ऋजु, कोमल, तू लघु सानुप्रास,
सहृदयकविसे सलिल हृदय में उमड़ रही सविलास ।
नर्त्तकि ! अपने मृदुल अधर पर रख अँगुली सुकुमार
किस विश्रब्ध नवोढा-सी तू करती मृदु संचार ?
पहन भंगिमय कम्बु-कण्ठ में ताराओं के हार,
करने आती अपर पुलिन से खद्योतों को प्यार ।
अपने कर में ले कर उस का पुलकित बाहु-मृणाल
सुप्त सरसिजों से इंगित में कहती कुछ तत्काल ।
तरल नृत्य ज्योत्स्ना-छाया में, आतप में मुसकान,
रच शैवाल-तिरस्करणी में अभिनय-पट अम्लान ।
प्रात पुलिन के रंगमंच पर इच्छाओं-सी मौन
अहमहमिकया, चिर-यौवनमयि आती है तू कौन ?
पुलिन-पतित निर्मुक्त शुक्ति से कर कुछ मौनालाप,
निठुर नियति पर, तन्वि ! तानती निज आयत भ्रू-चाप

२५

मलय-समीरण की थपकी का पा कर सुरभित प्यार
वन्य बालिके ! सोते-सोते जग जाती उस पार।
हृदय दोल पर कभी झुला कर शत जाग्रत उडु-बाल,
सुला रही गा मृदुल लोरियाँ अपलक, देती ताल।
सरिता को अविरल पुलकावलि, मीनों की मुसकान
शत कटाक्ष चिर-शून्य प्रकृति की तू, आदान-प्रदान।
तरुणि ! नित्य तेरे अंचल में भर निज स्वर्ण महान्
विरल नखत चिर-शून्य मार्ग में छिप जाता दिनमान,
श्याम गगन की पंचवटी में जब सन्ध्या-साकार,
आती है तब तू नूपुर-सी मुखरित बारम्बार।
नृत्य, गान, उत्थान-पतन, गति-लय, आदान-प्रदान,
शैशव-यौवन, तम-प्रकाश की तू साकृति अनुमान।

['द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ' से]

भोले कुसुम ! भूले कुसुम !

भोले कुसुम ! भूले कुसुम !
जो आज भी जागे न तुम !

नीहारिका से द्वन्द्व कर रवि-कर-निकर विजयी बने,
प्रत्यूष के पीयूष-कण पहुँचा रहे तुम तक घने,
कोमल मलय के स्पर्श-सौरभ से, हिमानी से सने—
दुलरा तुम्हें जाते, जगाते कूजते तरु के तने,

तो और जागोगे भला किस जागरण-क्षण में, कुसुम ?
यह स्वप्न टूटेगा न क्या, भोले कुसुम ! भूले कुसुम !

लो, तितलियाँ मचलीं, चलीं, सतरंग चीनांशुक पहन,
छविकी पुतलियों-सी मचलती, मद-भरे जिन के नयन,
हर-एक कलि के कान में कहती हुई 'जागो, बहन !
जागो, बहन ! दिन चढ़ गया, खोलो नयन, धो लो बदन।'

अनमोल रे यह क्षण न खोने का शयन-बन में, कुसुम !
कब और जागोगे भला, भोले कुसुम ! भूले कुसुम !

['शिंजिनी' से]

'चकोरी' (रामेश्वरी देवी) [१९१३–१९३५]

प्रभात

अरे ! उस स्वर्ण-मार्ग से दिव्य
पहन कर लाल-लाल परिधान–
उषा आयी अलसित, कुछ व्यस्त
लिये कर में स्वागत-सामान !

सुनहली किरणों में निस्तब्ध
पड़ी है ज्वाला संज्ञा-हीन,
उषा-रानी की प्यासी साध
मूक छाया-सी उस में लीन !

पुष्प के अधर प्रकम्पित हुए,
भरी है तीखी सौरभ-सुरा !
पँखुड़ियों को प्याली में ढाल
पी रही अलि-बाला आतुरा !

कहीं से आ भोला संगीत
शून्य में हो जाता है लीन !
सिहर उठते पल्लव नवजात
हृदय की चंचलता से हीन !

सुहागिन कृश, कोमल वन-लता
कह रही एक मौन सन्देश !

उसी कम्पन में मचला आज
किसी विस्मृत अतीत का शेष !

गा रहे मर-मर तरु के पात,
अरे, वह कितना अस्फुट राग !
छलकता है उस से अनुरक्त—
किसी का सोने-सा अनुराग !

निशा के ढुलके अश्रु असंख्य
व्यथा में डूबे-से अज्ञात,
कह रहे कलियों से चुपचाप
मधुर सपनों की भूली बात !

चपल, परिमल बिखेरता हुआ
श्रान्त, आकुल-सा, मत्त, अधीर
चुरा फूलों का सौरभ, चला
किसी चिर-सुन्दर देश समीर !

मुसकराया सहसा रवि दिव्य
गुलाबी पट धीरे से खोल;
उषा अपनी प्राणों की साध
छिप गयी बिखराकर अनमोल !

खिल उठे पुष्प, हँसा संसार,
गयी ले कर तारों को रात !
हुई नीरव समाधि वह भंग
हँस उठा मादक, तरुण-प्रभात !

['नारी-काव्य-संग्रह' से]

आरसीप्रसाद सिंह

[ज० १९१३]

तितली

तितली, तितली ! कहाँ चली हो नन्दन-वन की रानी-सी ?
वन-उपवन में, गिरि-कानन में फिरती हो दीवानी-सी ।
फूल-फूल पर, अटक-अटक कर करती कुछ मनमानी-सी ।
पत्ती-पत्ती से कहती कुछ अपनी प्रणय-कहानी-सी ।

यह मस्ती, इतनी चंचलता किस से अलि ! तुम ने पायी ?
कहाँ जा रही हो इस निर्जर मदिर उषा में अलसायी ?
सोते ही सोते मीठी-सी सुधि तुम को किस की आयी ?
जो चल पड़ीं जाग तुम झटपट लेते-लेते अँगड़ाई ।

कितना मोहक अहा, तुम्हारा छोटा-सा तन है सुकुमार !
अखिल जगतके लावण्यों का मानो, एक यही हो सार ।
अयि, अनंग की सफलदूतिका ! पा कर रति-रानी का प्यार:
आज चली हो झंकृत करने किस तपसी के उर के तार ?

यह मोहावृत विश्व तुम्हारी छवि पर मुग्ध बना प्यारी;
सरस तुम्हारे हाव-भाव पर विस्मित है जनता सारी !
कहो, आज कैसे इस वन में भूल गयी पथ सुकुमारी ?
बलिहारी अयि चिर-यौवनमयि, तुम पर स्नेह-सुधा वारी !

उड़ती हो जब मुक्त गगन में सान्ध्य-जलद के तुम पर खोल;
उठ जातीं सौन्दर्य-सिन्धु में अचिर तरंगावलियाँ लोल।
सजल कल्पना की छाया में मानस को पावस-हिन्दोल
बना अभी तक झूल रही है सजनि, तुम्हारी छवि अनमोल !

अरी, स्वर्ग की परी ! उतर तुम कैसे पड़ीं विजन वन में ?
हाय, छोड़ मन्दार-तल्प को कहाँ आ गयी निर्जन में।
क्या श्मशान, क्या कुसुम-कुंज; तुम कुछ न सोचती हो मन में।
हे कोमल-पद-गामिनि, विचरो मत इस कंटक-कानन में।

शाप-भ्रष्ट उर्वशी न क्या तुम ? शकुन्तला तापस-बाला ?
किस निष्ठुर दुष्यन्त कन्त को पहनाओगी वरमाला ?
सजनि, तनिक सुरभित तो करती जाओ मेरी मधुशाला।
दमयन्ती, किस निष्ठुर नल से पड़ा आज तुम को पाला ?

फूलों-फूलों से रस ले कर सखि, क्या तुम नित करती हो ?
किस नीरस के हृदय-कोष को रस से बरबस भरती हो ?
कौन भाग्यशाली है वह, जिस पर निशि-दिन तुम मरती हो ?
हरती हो अलि ! किस की सुध-बुध, जब स्वच्छन्द विहरती हो ?

करती हो तुम कहाँ वास ? किस कलस्विनी सरिता के तीर ?
किस वानीर-कुंज में निर्मित आलि ! तुम्हारा मंजु कुटीर ?
बहता है क्या सजनि ! वहाँ भी मन्द-मन्द स्वर्गीय समीर ?
क्या खाती हो ? क्या पीती हो ? किस वापी का निर्मल नीर ?

अयि, प्रेयसि ! अप्सर-कुमारिके, यह कैसा प्रिय-प्रेम-प्रलाप ?
गाती जाती हो मदमातीं, मुसकाती हो अपने-आप !

खिला विश्व-मानस-मुकुलों को, खींच अधर पर सुख-सुरचाप;
अहे राग-रंजिते त्रिवेणी हरने आयी क्या भव-ताप ?

सतरंगी अम्बर-विमान-सी नीली, पीली, औ' काली;
डगमग क्यों करती हो मलयज के झोंकों में मतवाली ?
इन्द्रधनुष-निर्मित तरनी-सी पुलकित कर डाली-डाली
हरियाली के तोयधि में खे रहा कौन तुम को आली ?

अरी, कौन-सी कुशल तूलिका से चित्रित तुम छविराशी ?
हो सजीव प्रतिमा किस प्रिय की ? किस के अधरों की प्यासी ?
कहो, कौन से कविर्मनीषी की तुम कोमल कविता-सी
मन्द-मन्द मालिनी-छन्द में करती हो कुछ क्रीड़ा-सी ?

रूप-सरोवर के चिर-शीतल वारि-वीचियों से निर्मल
सद्यःस्नाता-सी आयी हो लहरा कनकारुण कुन्तल;
उड़ा तुम्हारा चंचल अंचल, पी कर पावन छबि-परिमल
मन्द पवन लड़खड़ा रहा है विजन वनों में बन पागल ।

आओ, आओ कुसुमित कर सखि ! उपवन की क्यारी-क्यारी;
बैठो मेरे भाव-लोक पर तुम त्रिलोक से हो न्यारी ;
राजदुलारी, तुम पर सुरपुर की परियाँ हों बलिहारी ।
बिठा भारती-मन्दिर में आरती उतारें सुकुमारी ।

['कलापी' से]

नरेन्द्रशर्मा

[ज० १९१३]

गाँव की धरती

चमकीले पीले रंगों में अब डूब रही होगी धरती,
खेतों-खेतों फूली होगी सरसों, हँसती होगी धरती।
पंचमी आज, ढलते जाड़ों की इस ढलती दोपहरी में
जंगल में नहा, ओढ़नी पीली सुखा रही होगी धरती।

इस के खेतों में लिखती हैं सींगरी, तरा, गाजर, कसूम,
किस से कम है यह, पली धूल में सोनाधूल-भरी धरती।
शहरों की बहू-बेटियाँ हैं सोने के तारों से पीली,
सोने के गहनों में पीली, यह सरसों से पीली धरती।

सिर धरे कलेऊ की रोटी, ले कर में मट्ठा की मटकी
घर से जंगल की ओर चली होगी बटिया पर पग धरती।
कर काम खेत में स्वस्थ हुई होगी तलाब में उतर, नहा,
दे प्यार बैल को, फेर हाथ, कर प्यार, बनी माता धरती।

पक रही फसल, लद रहे चना से बूँट, पड़ी है हरी मटर,
तीमन को साग और पौहों को हरा, भरी-पूरी धरती।
हो रही साँझ, आ रहे ढोर, हैं रँभा रहीं गायें-भैंसें,
जंगल से घर को लौट रही गोधूली बेला में धरती!

['मिट्टी और फूल' से]

देवली की सुबह

डूब रहे नभ के तारे, झर रहे जुही के फूल जैसे !

धौले घन हो रहे केसरी, पिंगल पल्लव-डाल जैसे,
भरा कनक-चम्पा से जैसे नभ का निर्मल थाल जैसे ।
आसमान सब सोना-सोना, धरती सोना-धूल जैसे ।

पौ फटती, अवनी-अम्बर का होता दूर दुराव जैसे,
बिंध इच्छा-शर से शरमाती प्राची लाल गुलाब जैसे !
लाल किरण ज्वाला-शर जैसी, बादल जलती तूल जैसे !

जहाँ पीत पुखराज सोहता, बिखरी माणिक-माल जैसे,
अर्द्ध-उदित रवि माणिक-कुंडल, मुकुलित अरुण मृणाल जैसे,
अरुणोदयके बादल दिखते हिलता दूर दुकूल जैसे !

तारे छिपते, सूक डूबता, थका अकेला चाँद जैसे,
देख फेर फीका मुख, जाता दीवारों जो फाँद जैसे,
रात और दिन भी हम-तुम-से सरिता के दो कूल जैसे !

एक और दिन आया, प्यारे, यह जीवन दिन-मान जैसे !
हुई सुबह, पीलो उड़ आयी, मेरे पुलकित प्राण जैसे ।
खिंचे कँटीले तार सामने, चुभते सौ-सौ शूल जैसे !

['मिट्टी और फूल' से]

रानीखेत की रात

शान्त है पर्वत-समीरण, मौन है यह चीड़ का वन भी।
बालकों की बात-सी आयी-गयी-सी हो गयी है बात,
नखत ज्यों आँसू-पुछे दृग, चुप हुई चुपचाप रो-रो रात।
रुकेंगे निश्वास मेरे, शान्त होगा चिर-विकल मन भी।

रुकी झंझा, फिर खड़ी दृढ़ सामने गिरि पर असित तरु-पाँत
नील नभ ऊपर, हृदय ज्यों सह चुका आघात पर आघात!
खुलेगा निस्सीम नभ-सा एक दिन यह शून्य जीवन भी।

यह खुला नभ, यह धुला नभ, खिल रही यह चाँदनी अनमोल,
यह अमृत की वृष्टि, खिलती कुमुदिनी-सी सृष्टि दृग उर खोल,
खुली कलियों-से खुलेंगे ही हमारे मोह-बन्धन भी।

['पलाश-वन' से]

बालकृष्ण राव [ज० १९१३]

वसन्त-पंचमी

न होता इन घनी, गन्दी, पुरानी बस्तियों के बीच
इतना खूबसूरत बाग,
ये सारे महकते, मुस्कराते फूल
यों सज कर
खड़े होते न स्वागत में सबेरे से,
न हम को
आज की यह तेज उड़ती धूल ही
ऋतुराज के रथ के गुज़रने का
पता देती ।
मगर अब तो हमें मालूम है
इस ओर भी मधुमास आया था :
हमें भी मिल गयी थी देखने को
लीक पहियों की,
समायी थी हमारी साँस में भी
धूल खुशबूदार—
सुना हम ने कि सचमुच हँस रहे थे खिलखिला कर फूल,
सचमुच खूबसूरत लग रहा था बाग़ ।

['युग-चेतना' से]

रानीखेत की रात

शान्त है पर्वत-समीरण, मौन है यह चीड़ का वन भी ।
बालकों की बात-सी आयी-गयी-सी हो गयी है बात,
नखत ज्यों आँसू-पुछे दृग, चुप हुई चुपचाप रो-रो रात ।
रुकेंगे निश्वास मेरे, शान्त होगा चिर-विकल मन भी ।

रुकी झंझा, फिर खड़ी दृढ़ सामने गिरि पर असित तरु-पाँत
नील नभ ऊपर, हृदय ज्यों सह चुका आघात पर आघात !
खुलेगा निस्सीम नभ-सा एक दिन यह शून्य जीवन भी ।

यह खुला नभ, यह धुला नभ, खिल रही यह चाँदनी अनमोल,
यह अमृत की वृष्टि, खिलती कुमुदिनी-सी सृष्टि दृग उर खोल,
खुली कलियों-से खुलेंगे ही हमारे मोह-बन्धन भी ।

['पलाश-वन' से]

बालकृष्ण राव [ज० १९१३]

वसन्त-पंचमी

न होता इन घनी, गन्दी, पुरानी बस्तियों के बीच
इतना खूबसूरत बाग,
ये सारे महकते, मुस्कराते फूल
यों सज कर
खड़े होते न स्वागत में सवेरे से,
न हम को
आज की यह तेज उड़ती धूल ही
ऋतुराज के रथ के गुज़रने का
पता देती।
मगर अब तो हमें मालूम है
इस ओर भी मधुमास आया था :
हमें भी मिल गयी थी देखने को
लीक पहियों की,
समायी थी हमारी साँस में भी
धूल खुशबूदार—
सुना हम ने कि सचमुच हँस रहे थे खिलखिला कर फूल,
सचमुच खूबसूरत लग रहा था बाग़।

['युग-चेतना' से]

वह गन्ध

वह गन्ध मेरे मन बस गयी रे।

इक बन जूही, इक बन बेला
अगणित गन्धों का यह मेला
पा कर मुझ को निपट अकेला इन प्राणों को कस गयी रे।
वह गन्ध मेरे मन बस गयी रे।

इक छिन पच्छिम, इक छिन पूरब
भटक रहे हैं गन्ध-पंख सब
रोम-रोम के द्वार खोल कर वह अन्तर में धँस गयी रे।
वह गन्ध मेरे मन बस गयी रे।

नभ में जिस की डालें अटकीं,
थल पर जिस की कलियाँ चटकीं
मेरे जीवन के कर्दम में वह अनजाने फँस गयी रे।
वह गन्ध मेरे मन बस गयी रे।

['सुहागिन' से]

तारा पाण्डेय [ज० १९१४]

शुक-पिक

शुक-पिक ! शुक-पिक ! ये गीत-विहग,
कलरव करते जग-उपवन में :
जीवन के सुख-दुख की स्मृतियाँ
जग पड़ती गीतों में, मन में ।

पीले पत्ते झर-झर पड़ते
बीते जीवन के-से विषाद,
हँस उठते नव स्वर्णिम पल्लव
बन नव आशा, नव स्पृहा, ह्लाद ।

शुक-पिक ! शुक-पिक ! नभचारी खग;
प्रिय है इन को जग की डाली,
ये गाते हैं, भर जाते हैं
जीवन के मुकुलों में लाली ।

['शुक-पिक' से]

'अंचल' (रामेश्वर शुक्ल) [ज० १९१५]

वर्षा-गीत

हरी चूनर पहन कर आ गयी वर्षा सोहागिन फिर ।

कहीं वन-बीच फूलों में पड़ी थी स्वप्न में सोयी,
उलझते बादलों की लट पिया छलका गया कोई ।
तिमिर ने राह कर दी—राह कच्ची धूप की धोयी,
पवन की रागिनी मोती-भरे आकाश में खोयी ।
पहन धानी लहरिया आ रही वर्षा सोहागिन फिर ।

गुँथी है जुगनुओं से मोरपंखी किशमिशी चोली,
दिये गुलनार माथे पर शफ़क़ की रेशमी रोली ।
हिंडोलों की लहर में गीत की कोमल कड़ी बोली,
लकीरें खींच पारे की बलाका व्योम में डोली ।
लिये मन नववधू का चल पड़ी वर्षा सोहागिन फिर ।

हिना से लाल हाथों में लजीले चाँद की थाली,
दमकती दामिनी ज्यों माँग की हो ईंगुरी लाली ।
विभा की दर्पणी में देख अपना रूप मतवाली,
फटी पौ आज यौवन की रही है गूँज हरियाली ।
पहन मंजीर झरनों के चली वर्षा सोहागिन फिर ।

उभरती और खिलती सद्यस्नाता-सी चली आती,
नये सुकुमार रंगों में किरण-सा रूप छिटकाती।
अधर दाँतों-तले दाबे सभी को देखती भाती,
कमर में इन्द्रधनुषी करधनी सौ बार बल खाती।
हरी चूनर पहन कर आ रही वर्षा सोहागिन फिर।

['वर्षान्त के बादल' से]

सुमित्राकुमारी सिनहा [जं० १९१५]

वासन्ती ऋतु

फिर वासन्ती ऋतु आयी।
लो दूर नगर से गाँवों में फिर निखर उठी तरुणाई।

खेतों में अरहर फूली, सुकुमार लताएँ झूलीं,
ले कर सोने की तूली वह प्रकृति-वधू भी भूली,
ऊसर के ठिठुरे ठूँठों में भी हरियाली लहरायी
फिर वासन्ती ऋतु आयी।

सोने के मुकुट सजाये, सरसों झुक झूम लजाये,
फागुन ने वेणु बजाये, रग-रग में गीत गुँजाये,
लालसा बनी पागल आँधी सारी चेतना भुलायी
फिर वासन्ती ऋतु आयी।

सुरभित बयार फिर डोली, मदमस्त कोकिला बोली,
बौरों ने आँखें खोलीं, नाची भौरों की टोली,
ले रंग-भरी झोली, होली तरुणों के मन मुसकायी
फिर वासन्ती ऋतु आयी।

२७

फिर नयी उमंगें लहकीं, फिर मीठी चाहें चहकीं,
फिर मन की राहें महकीं, फिर भोली साधें बहकीं,
फिर सरिता के सूखे तट को चूमने लहर उठ धायी
फिर वासन्ती ऋतु आयी।

आँचल भर जौ की बाली ले कृषक-बालिका काली,
आनन्द-मगन मतवाली भरती रस से मन प्याली,
फिर बौर उठी युवकों के अन्तर की सुन्दर अमराई।
फिर वासन्ती ऋतु आयी।

घूँघट में चाँद छिपाती, सकुचा मुसका बलखाती,
नूपुर ध्वनि पर इठलाती, वह ग्राम-वधू मदमाती,
अपने सपने साकार किये पनघट पर उत्सुक धायी
फिर वासन्ती ऋतु आयी।

फिर पुण्य उदय जीवन के, बूढ़े भूले दुख तन के,
फिर ढोल-मँजीरे ठनके, फिर राग खिले हैं मन के,
अब प्रकृति-वधू के गालों पर कलियों की लाली छायी।
फिर वासन्ती ऋतु आयी।

अब होंगे खेत सुनहले, मन के विश्वास रुपहले,
आशा चुपके कुछ कह ले, सन्तोष तनिक बस रह ले,
श्रम कठिन हुआ, हँसमुख खेतों में विजय ध्वजा फहरायी।
फिर वासन्ती ऋतु आयी।

['आशापर्व' से]

गुलमुहर के फूल

दोपहर के ताप का यह गुलमुहर का फूल !

धूप पकी आयु की बरसा रही अंगार,
लू विषमता की चले आग्नेय पंख पसार,
विफल आकांक्षा सरीखी स्तब्धता हो मौन,
व्यंग्य-सी उड़ती चतुर्दिक तिलमिलाती धूल ।
किन्तु ऐसे में खिले हँस गुलमुहर के फूल ।

जब कि पूरी ज़िन्दगी का उजड़ता हो बाग़,
फेर ले मुँह संग-सहचर बोलना भी त्याग,
तब इसी गतिशील जग के सिन्धु-यात्री-हेतु
एक छिन को यह दिखाता रंजना का कूल,
तप्त दुपहर में खिला यह गुलमुहर का फूल ।

क्लान्ति के वातावरण में भी न पड़ता मन्द,
प्राण के रँग-रूप का टूटे नहीं मधु छन्द,
अन्य ऋतुएँ जब रचाती सुमन-गण का रास,
तब न दिखता पाँत में यह एक छिन को भूल,
तप्त दुपहर में खिले यह गुलमुहर का फूल ।

आज ऐसे ही खिलो तुम, प्राण, बन कर हास,
तृप्त अपने में रहे जो वह बनो विश्वास,
गरल कटुता का न रूँधे कंठ का मधु-स्रोत।
खोल दो अव्यक्त को कर अहं को निर्मूल,
क्योंकि ज्वाला में हँसे, खिल गुलमुहर का फूल।

['धर्मयुग' से]

केशवप्रसाद पाठक [१९१६–१९५६]

पूछ रहे हो मेरा घर ?

पूछ रहे हो मेरा घर ?
कोलाहल के बड़ी दूर पर जहाँ खड़े हैं गिरि-गह्वर,
झर-झर झरते हैं निर्झर :

पवन खेलता पुष्प-पुंज से लता-कुंज में ठहर-ठहर,
खिलतीं कलियाँ रस-निर्भर;
खग-दल कल-कूजन से अपने मुखरित करते वन दिन भर,
मधु-उत्सव रत मत्त भ्रमर;

रूप-रश्मियाँ जहाँ सूर्य की आतीं-जातीं निखर-निखर,
मुसकाते निशिमें शशधर;

प्राण-पुलक भरता निर्झर में तरु-पत्रों का मृदु मर्मर,
गति-स्वर लय-मय कर अन्तर;

अथक, तरल, शीतल जल बहता क्लान्त-श्रान्त मन का श्रम हर,
कल-कल में लोरी गाकर;

शान्ति जहाँ सुख से सोती है दूर्वा के वक्षस्थल पर,
सीकर से शय्या कर तर;

घास-पात का बना हुआ है वहीं कहीं मेरा भी घर,
छोटा-सा पर अति सुन्दर !

पूछ रहे हो मेरा घर ?
कसे जहाँ परिरम्भ-पाश में चपल तरंगिणि प्रस्तर-कर,
जलधर ज्यों घेरे अम्बर;

सरल प्रकृति-शिशु के लहराते स्वर्णिम कदलि-केश सुन्दर,
कलि-प्रस्फुटन किलक का स्वर;

इन्द्रधनुष के पंख तितलियाँ ले, सुमनों पर चल पग धर,
उर्मिल करती छवि-सागर;

गूँज प्राण-पुलिनों पर तरला सुरभि-स्वप्न कर रहीं मुखर,
बौर-बौर पर ठहर-ठहर;

सायं-प्रात: भूली-सी कुछ याद जगा जाते नभचर,
पथ में बिछ चली केसर;

झिल्ली-झनझन तम में करती उत्सुकता से उर उर्वर,
वन-श्री का ज्यों नूपुर-स्वर;

रूप-रश्मियाँ हौले-हौले निशि-नयनोंमें उतर-उतर,
रहस चूमतीं प्रणय-अधर;

तेज किरन आलोकित करती बन, सर, सरिता, अद्रि-शिखर,
सतत कर्म-व्रत-रत दिनकर;

परदेसी न मिलेगा ऐसा, लघु-लघु घर, निर्जन मनहर,
ढूँढ़ो युग-युग नगर-नगर !

['काव्य-कलियाँ' से]

जानकीवल्लभ शास्त्री

[ज० १९१६]

ग्रीष्म और वर्षा

ताली-तरु-मर्मर ।

  ग्रीष्म-मध्याह्न :
  तपन ऊपर
  परितप्ततर :
धर्म-ज्योति-प्रखर दिक्-प्रसर
  निर्जल धरा,
मरु-पथ-पथिक असहाय,
श्रान्त-गति, भ्रान्त-मति, क्लान्त-काय,
उड़ रहे स्फुलिंग-से सिकता-कण झर-झर ।

ताली-तरु-मर्मर ।

प्रेयसी झाँक-झाँक जाती,
  मन-वातायन,
आज वह साज ! गाढ़ परिरम्भण !
वात्या-चक्र चंक्रमित भागा द्रुत,
  शुष्क-वाष्प-व्याकुल, अनुभूति-प्लुत
  उन्मीलित पन्थी-दृग-युग रज भर-भर ।

ताली-तरु-मर्मर ।

: २ :

आये घन-श्याम !

श्लथ हरित-कंचुकी
वसुधा व्रज-बालिका :
ऊर्मिल जलधि : स्रस्त कांची रणित :
सजल अंग-अंग : सिहर अगणित :
सुरभित-समीर : श्वास :
पुलक-कदम्ब-मालिका :
वन-वृन्द : वृन्दा धाम ।

आये घनश्याम !

•

चकित तड़ित : पीत पट,
मन्द्र-रव : वेणु
बरसता सरस स्वर : मन्द-मन्द बिन्दु,
सस्मित राका ज्यों खल पूर्ण इन्दु,
आप गत ताप
प्रमुदित-चित धेनु :
जल थल सकल अभिराम ।

आये घनश्याम !

['शिप्रा' से]

फाग राग

रंग-तरंगों पर लहराती आती मलय बयार;
फाग-राग सुन-सुन, सुन-सुन, मदमाती मलय बयार।

टेसू टह-टह लाल सुनहला
आँचल भू का फैला,
तीक्ष्ण किरण के सैन चलाता
ऊपर से नभ छैला
और बौर-मिस शीश झुलाती जाती मलय बयार।
फाग-राग सुन-सुन, सुन-सुन, मदमाती मलय बयार।

गुन-गुन-गुन-गुन भौंर और
कूऊ-कूऊ नर-कोयल,
स्वर-पराग बौछार बिछ रही
पाँखुरियों पर कोमल,
सुरभि-परों पर मधु मरन्द ढुलकाती मलय बयार।
फाग-राग सुन-सुन, सुन-सुन, मदमाती मलय बयार।

यह अँगड़ाई वन-वैभव की
तरुणाई कलरव की,
यह किसलय-तूलिका उतारेगी
छवि किस नव भव की ?
केसर-केश अभी उलझा, सुलझाती मलय बयार।
फाग-राग सुन-सुन, सुन-सुन, मदमाती मलय बयार।

['पाषाणी' से]

२८

'सुमन' (शिवमंगल सिंह) [ज० १९१६]

साँझ सलोनी बड़ी मन-भावनी

ताल-तलैया भरे चहुँओर झकोर हिलोर में डोलै हिया,
दूब की चादर फैली दिगन्त लौं मोर को शोर मरोरै जिया।
आ रही काजर आँजे निशा पुतली में घिरी घटा सावनी री,
आज की साँझ सलोनी बड़ी मन-भावनी री।

आम की डाल पै झूले पड़े चढ़ी पैंग, उतार में हूक उठे,
आली, लपेट न आँचर में मोरे जानी-अजानी-सी कूक उठे।
डोर की ऐंठन, मानो करै मन मान री मान मनावनी री,
आज की साँझ सलोनी बड़ी मन-भावनी री।

आज अटारी पै छायी घटा सई-साँझ लगी अनटूटी झरी,
आज की रात को राम ही मालिक लोनी लता पै गाज गिरी।
छान की वान टपाटप चू रही बीजु की कौंध डरावनी री,
आज की साँझ सलोनी बड़ी मन-भावनी री।

भींजि गयी देहरी पै खड़ी बौछार की मार न जाय सही,
पीपर-पात की घात लगी कछु बात उठै पै न जाय कही,
साजही साज सिंगार को दीपक आज पिया की है आवनी री,
आज की साँझ सलोनी बड़ी मन-भावनी री।

['पर आँखें नहीं भरीं' से]

शरद-सी तुम कर रही होगी कहीं शृंगार

काँस-सी मेरी व्यथा बिखरी चतुर्दिक,
बाढ़-सा उमड़ा हृदयगत प्यार,
मेघ भादों के झमाझम झर रहे जो—
शरद-सी तुम कर रही होगी कहीं शृंगार

लुट रहा है
छुट रहा है
सुलगता आकाश, धरती पुलकमाना,
आज हरियाली गयी पथ भूल।
हृत उमंगों का भला कोई ठिकाना,
खो गयी सरि, खो गये दो कूल।
तप्त अन्तरमें घुमड़ती तरलता म्रियमाण,

गल गये पाषाण।
वर्ष भर की वेदना सिमटी
कि लहराया अतल उन्मुक्त पारावार।
नील नभ से स्निग्ध निर्मल केश
गूँथे जा रहे होंगे सँवार-सँवार,
पिस रही मेंहदी, महावर रच रहा,
तारिकावलि-चन्द्रिका की हो रही होगी सहेज-सँभार।

मैं प्रतीक्षा-रत
धो रहा पथ,
हंसमाला मुक्त बन्दनवार
शस्य चामर चारु, श्लथ शेफालिका का हार।

आ रही होगी उड़ाती नील अंचल
　　लोल लहरों का प्रशान्त प्रसार।
देखने को नयन-खंजन विकल चंचल,
　　वक्ष की धड़कन उभार-उतार।
जपा-कुसुमों में तुम्हारा आगमन आभास।
　　सागर से बुझी कब प्यास!
व्यर्थ चिन्ता, व्यर्थ क्रन्दन, अब रहस्य रहा न गोपन,
　　रूप-परिवर्तन तुम्हारे अमर यौवन का सतत आधार।
एक इंगित के लिए ठहरें कुमुद-वन,
　　खिंच रहे हैं रजत-स्वर्णिम रश्मियों के तार,
स्निग्ध शतदल के सुवासित स्तरों में,
　　हो रहे स्वच्छन्द भ्रमरों के लिए तैयार कारागार।
आज तन-मन में लगी है होड़,
देखता अनिमेष पथ का मोड़
दूर की प्रत्येक ध्वनि, प्रत्येक आहट,
एक छलना, अचकचाहट
　　पूछती फिर-फिर विफल मनुहार :
कब पकेंगे धान ?
कर रहे स्वीकार पाटल कंटकों के स्नेह का आभार,
फूटने को कोरकों से गान।
कब ढलेगी दूधिया मुसकान गंगा-तीर
जब घर-घर बनेगी खीर।
मन अथिर उद्भ्रान्त,
चाहता एकान्त,
एक क्षण के लिए चाहे
　　भेंट जिस से कर सकूँ मैं उपालम्भों का पुलक-उपहार।

['प्रतीक' से]

चेरापूँजी

मुक्त हृदय कर रहा यहाँ नभ व्यथा-विसर्जन ।
विश्व-भ्रमण-परिश्रान्त-क्लान्त-सुस्थिर-विथकित-मन ।

जीवनदाता जलद वियोगी अन्तर्वासी,
लौट रहे घर लुटे-लुटे से पथिक प्रवासी ।

छिन-छिन बरस रहे हैं बादल आड़े-तिरछे,
उतर रहे यानों से डगमग-पग धर नीचे ।

यह पर्वत-पर्यंक हरित मखमली सुहावन,
घेरे खड़े विमुग्ध इन्द्र सहचर जीवन-धन ।

क्षितिज-छोर पर धुनी रुई की राशि छहरती,
कहीं सिन्धु-हिल्लोल, धूप-सी कहीं सुलगती ।

सिन्धु उफन चढ़ गया व्योम पर ज्वार विलोडित,
व्योम-धरा पर विहर रहा मिलनातुर, पुलकित ।

अचल हृदय की गहराई-सी सुरमा घाटी,
फैली बायीं ओर स्नेह-सुख की परिपाटी ।

गिरते मुशमाई-प्रपात पाण्डवगण निर्भर,
प्रिया द्रौपदी का बनवासी अन्तर उर्वर ।

झर-झर निर्झर नाच रहे दे-देकर ताली,
उतर गयी है साथ-साथ नीचे हरियाली ।

फैला दूर सुनामगंज का विस्तृत अंचल,
झलक रहा जल-विरल बालकों का हँसमुख दल ।

उपत्यका में विचर रहे स्वच्छन्द बलाहक,
देख रहे जीवन-परम्परा होती सार्थक।

आर्द्र उच्छ्वसित उमड़-घुमड़, आया विह्वल मन,
घेर-घेर घिर उठे मंडलाकार गगन घन।

वृष्टि मूसलाधार घिस गये पर्वत मानो,
यह जीवन की शक्ति, हो गया पत्थर पानी।

कितना बरसे कौन ? लगी बाज़ी, ध्वनि गूँजी,
विश्व-विजयिनी कामरूप की चेरापूँजी।

यहाँ पुष्करावर्त्तक मेघों का सिंहासन,
होता सुविघ्नजनक यक्षहित यह निर्वासन।

दक्षिण पार्श्व सघन द्रुमदल की घाटी सुन्दर,
फूट पड़ा नोआकालीकाई का अन्तर।

निर्मल शुभ्र-प्रपात अमर बलिदान बिजनवर,
गुहा-गेह में सुघर लुप्त हो गयी मुखर सरि।

जल-सीकर उड़ रहे धुएँ-से आहत-आकुल,
पुञ्जन-कन्दरा शून्य-आर्त्त-गृह-सी शंकाकुल।

अम्बर-अवनी मुग्ध परस्पर पुलकन चुम्बन,
कुहरांचल में मेघ-मनुज करते आलिंगन।

भर-भर आते नयन, हृदय हो उठता गद्‌गद्,
कामद, तृष्णा-शमन-शील झर-झर पड़ता मद।

पता नहीं मेरे मन की आशा कि दुराशा ?
लौट रहा हूँ चेरापूँजी से भी प्यासा।

['पर आँखें नहीं भरीं' से]

'देवराज' (नन्दकिशोर) [ज० १९१७]

सहस्रधारा

ओ सहस्रधारा !

ओ विमुक्त, ओ अबाध
अयि सदा विशृंखले
शैल-अंक, केलि-मग्न
विविध आकारा
ओ सहस्रधारा !

राशि-राशि नीर भर
तुंग शैल से उतर
कहीं दौड़ती अधीर
कहीं थिरकती निडर
दिखाती कला अनेक
पद-क्षेप द्वारा
ओ सहस्रधारा !

क्षुद्र तरु-पुंज में
वन्य घास में कहीं
एक क्षण को फँसी
क्रुद्ध स्वर फिर वही
मोड़ मुख; तोड़ती

शिलाखंड-कारा
ओ सहस्रधारा !

कहीं शान्ति-कुंज में
भावना-निमग्न-सी
पक्षि कलरव में
विश्व गान ढूँढ़ती
मन्द-मन्द छाया वस्त्र
छोड़ के निकलती

तू रहस्य-भारा
ओ सहस्रधारा !

सूर्य के प्रकाश में
तरल रश्मि-लास में
वायु की हिलोर में
पक्षिकुल-शोर में
मृदु-स्पन्द मृदुल रव;
थिरकता प्रभागर्भ

बारि-वपु प्यारा
ओ सहस्रधारा !

शत-शत शैल-स्रोत
सौ-सौ निर्झर
स्फीत जल-राशि में
मिल जाते सत्वर
घूमती विभक्त हो
वितत गिरि-देह पर

ऊर्मि आधारा
ओ सहस्रधारा !

लक्ष लहरों में
लक्ष सूर्य छाया
लक्ष बूँदों में
लक्ष रश्मि माया।
लक्षी हुआ एक चन्द्र
सलिल राशि में अनन्द
लक्षित हैं नित्य, नित्य
सौ सहस्र तारा
ओ सहस्रधारा !

['जीवन-रश्मि' से]

२६

शम्भूनाथ सिंह [ज० १९१७]

सागर की पूर्णिमा

सागर से पूनम-चाँद मिला !

कण-कण में बरसाता रस-कण,
अविराम लुटाता नव-जीवन,
ले कर ज्योत्स्ना की रजत-तरी
लहरों पर उतरा नैश गगन,
चाँदनी मरण को जीत रही
अधरों का अमृत-गीत पिला।
सागर से पूनम-चाँद मिला !

पागल ज्यों सागर का कण-कण,
संयम का टूट रहा बन्धन,
मधु के वासन्ती उत्सव पर
यौवन में ज्वार उठा भीषण,
लहरों के मधुवन में जैसे
मधु-ऋतु का पहला फूल खिला।
सागर से पूनम-चाँद मिला !

जल की तम-पूर्ण गुफा ज्योतित,
कण-कण में एक रूप बिम्बित,

पारद-सी ज्योति-शिखा अनगिन
बिखरी हैं लहरों में नर्तित,
चल जल के शीश-महल में, लो
बिजली का दीप-स्तम्भ हिला !
सागर से पूनम-चाँद मिला !

['दिवालोक' से]

रसमय हिमालय

थी पार्वती धरती जलती तप से निर्जल,
था महाकाल ज्यों समाधिस्थ निर्द्वन्द्व अचल,
सहसा झंकृत अनंग-धनु से शर छूट पड़े,
बन पंचबाण के पुष्प बरसते थे बादल !
क्षण-भर घाटी की भँवरों में कर आवर्तन,
क्षण-भर शिखरोंके उपलों का कर आलिंगन,
इस महाशून्य की डाली से झर-झर शाश्वत
बह रहे पवन की धारा में ये मेघ-सुमन !
क्षण बन दुकूल शृङ्गों का, क्षण परियों का पर,
बन देवदारु का वलय, वनों के बीच बिखर,
अधखुले नयन-नभ में तिर-तिर बनते-मिटते
ये कामरूप घन दिवा-स्वप्न के फूल सुघर ।

किस ने फैलाया यह हरीतिमा का दुकूल
बँध पा न रहे जिन में पारद के जलद फूल !

['दिवालोक' से]

कातिक की धरती

ऋतुमती कातिक की धरती,
उभरती नव छवि से भरती !
कातिक की धरती !

बूँद-बूँद रस ले कर निखरी,
सृजन-तृषा कण-कण में बिखरी,
अधवसना, अतिश्रम से बिथरी
लाज लिये मरती !
कातिक की धरती !

रोम-रोम में छवि की झाँई,
त्रिवली-सी है खिंची हराई,
सोनजुही-सी रूप-लुनाई,
अँग-अँग से झरती !
कातिक की धरती !

आज थकी सोयी यह माटी,
बीज-ग्रहण की यह परिपाटी,
कल मेचक-मेदुर मणि-घाटी
होगी यह धरती !
कातिक की धरती !

['माध्यम मैं' से]

हंसकुमार तिवारी

[ज० १९१८]

चैती दोपहरी

पीले पत्तों के मर्मर में चैती दोपहरी रोती है।

सब सूना-सूना लगता है हर ओर उदासी है छायी,
आलस का मादक सम्मोहन यह हवा कहीं से ढो लायी,
पहलू में कमी खटकती कुछ, कुछ व्यथा सजग-सी होती है।

दूबों का दामन तार-तार निर्धन तरु की डाली-डाली,
जगती की श्री-शोभा सब कुछ लगती जैसे खाली-खाली,
दुर्दिन में नंगे पेड़ों की अपनी छाया भी खोती है।

हैं खड़े ठूँठ पर विहग मौन कोयल उठती है कभी कूक,
लू में आ कर छू जाती है किस भूखे दिल की सजल हूक ?
फागुन की मस्त जवानी वह चुप यहीं कहीं पर सोती है।

वह दूर भूमि के कन्धों पर थक कर सोया है आसमान,
दोनों की श्रीहत आँखों में पीड़ा के बादल भासमान,
नभ के आँसू हैं ओस—धराके नभ-नयनों के मोती हैं।

मैं देख रहा हूँ दूर-दूर खिड़की से बाहर खेत-खेत,
ऊपर से धूप बरसती है, नीचे से उड़ता गर्म रेत,
पतझड़ के पहलू में धरती नव जीवन मधुर सँजोती है।

['रिमझिम' से]

चन्द्र कुँवर बर्त्वाल [१९१९–१९४७]

उजली वर्षा

सुन घन-गर्जन छितर दौड़ती गो-समूह-सी बदली,
ग्वाले की लकुटी-सी रह-रह चमक रही है बिजली,
असफल होकर क्रोध कर रही इधर-उधर दौड़ती पवन,
ग्वालिन की ममता-सी झरती घेर गगन वर्षा उजली,
प्रथम दिवस ये नव-वसन्त के धरा प्रेम से—भरी हुई,
छाया-भरे पथों में पुष्पों की पँखुरियाँ झरी हुई,
हरे-भरे शिखरों पर चरती थीं नव-गर्भवती गौएँ
छेड़ रहा था तान सुरीली ग्वाला झूम बाँसुरी की,
सहसा दिशा-दिशा भर आयी, लगी-पवन बहने गहरी,
पड़ी भूमि पर काली-काली छाया, नील बादलों की।
देख अचानक सघन अँधेरा, देख चमकती बिजली,
दिशा-दिशा को पूँछ उठा कर गौएँ छितर भाग निकलीं।

['जीतू' से]

जीतू

जहाँ जन्म ले गंगा, ऊँचे हिम-शिखरों पर
चट्टानों पर गिर विचूर्ण हो, पुनः चूर्ण हो,
गहरी सूनी अन्ध घाटियों में गिरती पड़ती है बहती,
क्रुद्ध नागिनी-सी अपने फन सहस पटकती,
गर्जन करती, तर्जन करती, मुख से गरल उगलती;

जहाँ पवन उड़ निज बर्फानी गुफा-नीड़ से
कर पंखों का घोर घोष सूने अम्बर में,
झपट नागिनी-सी मुड़ी हुई नदियों पर,
(जिन के तन से अपने तीव्रातुर चोंचों से
चातक हिम के टुकड़े तोड़-तोड़ जल पीते;)
तीव्र चंचु से सुदृढ़ विपिन को छिन्न-भिन्न कर,
घूम सनसना चीड़ों में, शिखरों से सहसा
उड़ जाता अम्बुधि की छाया देख वेग से;

जहाँ वास करते दुर्भिक्ष, प्लाविनी बाढ़ें,
और भयानक भूकम्पों के नीले बादल,
वज्र-घोष-से हँसते; बिजली की चल लपटें
पल-पल में जिन के शरीर से स-रव निकलतीं,
महा वेग से दिशा-दिशा में चमक फैलतीं,
धूम्र-केतु-सी प्रलय मचा फिर सहसा बुझतीं;

जहाँ बरसते हिम के फूल शिशिर में मनहर
ढकते धरती, भोज-पत्र तरु, उच्च गिरि-शिखर;

ढक जातीं नदियाँ-हिम से, दोनों तट मिलते;
नीचे जल सहसा बहता, ऊपर चरवाहे चलते।
सरिता के हिम से दब जाते तर्जन-गर्जन;
फैला रहता हिम में भय-दायक सूनापन,
गर्जन करते सकल शिशिर-भर गगन घेर घन,
शशि-तारक-हीना होतीं मेघों की रातें,
दिन का मुख न चूम पातीं दिनकर की किरणें,
हिम की किसी अकेली चोटी पर डर से भर।
फैला रहता चारों ओर सघन हिम-सागर!

जहाँ वसन्त उदित होता सूरज के मुख-सा,
पतझड़ के पत्तों-से छिन्न-भिन्न होते घन,
कलियों-सी खिलतीं किरणें हिम-शिखरों पर
बहता मकरन्द सदृश-हिम धीरे-धीरे गल कर
जब होतीं किरणों से कुसुमित मृदु सन्ध्याएँ,
शिखर-शिखर पर विचरण करतीं मृदु मुग्धाएँ,
जब विलास करती शशि-वदनी निर्मल रजनी
हिम-शिखरों पर, नीरद-वसना, तारक-नयनी,
देख सुप्त सौन्दर्य मधुर हिम की शय्या पर,
पीली मुख-छवि, खुले वसन, असहाय मृदु अधर,
आता हिमगिरि में प्रेमी प्रभात रागारुण
तारों के नीचे चल कर सूनी राहों पर;

जहाँ फूटते नव-निदाघ में हिम-जल झरने,
कोमल कलरव पद-पद पर लगते हैं करने,
नदियों की लहरों में खंडित हो हिम बहता,
जल सहसा ही कूल डुबाता, सहसा बढ़ता,
शिखरों पर खोलते नयन हिम-भीरु कुसुम-गण,
जिन पर कई तितलियाँ करने लगतीं नर्तन,

३०

आते रंग-बिरंगे खग गिरि-शिखरों पर,
देश-देश से देश-देश के गीत सीख कर;
आते चरवाहे, भेड़ें ले कर शिखरों पर,
मुरली से करते नव-प्रभात गिरि पर सत्वर;

बहती अलकनन्दा जिस के चरणों पर,
भक्ति-भाव से श्रुति-मोहन कल-कल कर,
भर अपने लम्बे शरीर में श्यामल सम-तल,
जिस के घने नाल शिखरों पर बसते बादल,
कभी विचरते देवदारु-वन की पलकों पर,
कभी स्निग्ध श्याम छाया में सरसीरुह भर;
कभी सेंकते धूप मनोहर पर फैला कर,
और कभी रुक-सिमट अचानक अट्टहास कर,
करते तितर-बितर बन भर में गिरि-परियों को—
जिन के वृन्द झुका कर इन्द्रचाप लड़ियों को,
चुनते उन के वर्ण-वर्ण के रत्न मनोहर,
नन्दन-वन की मधुकरियों-सी गुंजन कर;
उस पर्वत के दूर्वा-दल का गात सुकोमल,
फैला था नभ में, शोभा उस पर धर चंचल।

उसी हिमालय के अंचल में मृदु शैलों से
घिरी एक घाटी थी, जिस को देख वनों से
उच्च हास हँसते उज्ज्वल उच्छृङ्खल झरने
हो जाते थे वाक्य-हीन सहसा सम्भ्रम से,
अपने पुलिनों की उन्मद छवि को देख-देख कर।
वहाँ भूल जाती थीं चलना गिरि की नदियाँ,
वहाँ बनों में बसती थीं सुषमा वर्षा की,
खेतों में रहती थी शरद-माधुरी छायी।

सरि-पुलिनों में हँसता था वसन्त फूलों में,
और, देखता इन सब को चुपचाप नयन भर,
चारों ओर वास करता था शिशिर, चमकते
हिम-शिखरों पर उज्ज्वल वस्त्र पहन कर सुख से ।

उस घाटी के बीच मधुर रस-पूर्ण फलों की
पीली छाया में, अपनी बहु-संख्य गवाक्षें
खोल, हिमालय की शोभा निष्पलक देखता
एक ग्राम था बसते थे जिसमें चरवाहे ।
सुखी लोग थे वे, नदियों के रम्य तटों पर
और पर्वतों के शिखरों पर अपनी भेड़ें
चुगा, बाँसुरी बजा शान्ति से जिन का जीवन
था व्यतीत हो जाता; युद्धों के भूकम्पों
के दुष्ट विचारों से, असम वित्त-वितरण से,
दूर खिल रहा था सरोज उन के जीवन का ।

... ...

इसी देश में रहता था, वह, याद मात्र ही
आज शेष है जिस की पृथ्वी की आँखों में;
वह चरवाहा था गिरि के शिखरों का वासी,
किन्नर स्वर से, अमर रूप से, मारुत बल से,
शिव-पवित्र कैलाश-शृङ्ग-सा निर्मल, पावन,
मुरलीधर-सा अपर, मधुर वंशी-वादन से ।

उस के मुख पर थी हिमगिरि की दीप्ति दमकती,
आँखों में थी शरद-निशा की कल-कोमलता,
वाणी में वर्षा के मेघों की जलमयता,
चपल चाल में थीं बाँजों-सी अडिग कठिनता ।

उस से मिलता था प्रभात ऊँचे गिरि-शिखरों पर,
उसे सुप्त पाती थी चिड़िया, तरु के तल पर।
उसे छोड़ती थी सन्ध्या रागारुण गिरि पर,
रजनी बाहर कर छिद्रों से शत-शत दीपक,
उस को पहुँचाती थी सकुशल उस के घर पर
कर प्रकाश-वर्षा उस की दुर्गम राहों पर।

वे तुषार शैलों की शीतल मन्द हवाएँ,
शैशव में जो हिला-हिला कर उस की अलकें,
उस से खेल खेलती थीं, जैसे बादल के
किसी व्याल से, नील गगन के एक कोण में,
वे ही अब उस के नवीन अनजाने यौवन
की शीतलता लगीं जलाने व्यथामयी बन;
शैलों के लख शृङ्ग अकेले खड़े धरा पर,
उसे न जाने क्यों होती थी अतुल-उदासी !
सुन भ्रमरों के निभृत गुंजन, उस का यौवन
झंकृत हो उठता था अब नवीन वेदन से,
गिरि की छवि-मूक उन घाटियों में अब उस की
वंशी लगती थी करुणामय गीत सुनाने।

देख चाँदनी में बेसुध हिम-गिरि की मालाएँ,
दुग्ध-सिन्धु के तल में जैसे रत्न-राशियाँ
छवि से एकाएक हुईं, पर लहर-चलन से
तनिक न हिलतीं-डुलतीं, उठतीं-गिरतीं,
वह उन्मन-सा, विकल, शून्य कुटिया के बाहर
निरखा करता था अम्बर में चारु सुधाकर,
और सामने शोभा से परिस्नात हिमालय,

जिस पर झरती थी अजस्र शशि-स्मिति की बरसा ।
कुन्द-कुसुम की नव-कलियों-सी धीरे-धीरे :
देख धरा का देव-विमोहन रूप हिमालय,
शुभ्र चन्द्रमा हँसता सुन्दर, नील गगन में,
उस के उर में एक वेदना कुसुम-बाण-सी
चुभ जाती थी, लोचन में भर आता था जल,
वह, सुन्दरता के उपवन में भ्रमर उदासी,
किस कलिका को खोज रहा था करुण भाव से ?

एक दिवस घन तिमिर-उदधि का सलिल काटता,
अरुण रश्मि-से, मृदुल करों से प्रात मनोहर,
हिमगिरि के शृंगों पर अपनी श्रान्ति मिटाने
बैठा नाविक, शिला पकड़ उठ धीरे-धीरे
चला, देखता नदियों पर से उठता कुहरा,
नीचे देख खुशी से नाच रही जल-धारा
होता कुछ स्पष्टतर गिरिमय कूल-किनारा
विहग-बालकों के स्वर्गीय स्वरों से मुखरित ।
ठहर गया वह एक मनोहर लतिका-तल पर,
जिस के फूल रात में उस से गिर कर
एक-एक कर तल पर राशि-राशि बिखरे थे,
गत रजनी के यौवन के कुछ स्मृति-चिह्न से ।

लगा सोचने वह विस्मित हो, किस ने आ कर
खोली लतिका की वेणी रजनी में हँस कर,
जिस में गुँथे कुसुम धरती पर गये सब बिखर ?
ओस-बिन्दु पी कर के शीतल मन्द हवाएँ
उस के चारों ओर लगीं ये प्रश्न पूछने,

रजनी में बेसुध क्यों हो जाता है जीवन ?
आता है वह कौन, प्रिया के केश खोलने,
इस सोयी धरती के यौवन की माया में
अन्धकार में चुपके-चुपके प्रेम-स्वप्न-सा ?

सोचा, लेकिन इस रहस्य की ग्रन्थि न सुलझी।
फिर आयी रजनी, फिर चन्द्र कला मुसकायी,
देख चरण पर बाँहें फैलाये शैलों को।
देवदारु की कुछ नीली घाटी में मुड़ती,
तारा-चित्रित ज्योत्स्नाम्बर से सज्जित हो कर
चली जा रही थी सरिता कल-कल रव करती,
किस प्रिय से मिलने को, सुन्दर शरद्-रात में।
पड़ी हुई थी भू पर शशि से छलक चाँदनी
दुनिया के रहस्य की एक मूक माया-सी,
और तैरता था सौरभ, जूही के उर का,
भीना-भीना मन्द पवन में धीरे-धीरे।

उस ने देखा, कोई चन्द्र-लोक से उतरी
उस के प्राणों की सरिता में प्यासी-सी हो,
जिस के पद-स्पर्श से उस की जड़ उर-सरिता
बहने लगी प्रेम से छल-छल कम्पित हो कर।
अरे, कौन है, देवदारु के तल के नीचे
नीली छाया में बैठी वह बेसुध हो कर ?
उस के प्राणों के सुमधुर स्वर से मिलने को
उस के प्राण हो रहे हैं क्यों इतने आतुर ?
वह बैठी है, उस के नूपुर शान्त मौन हैं,
किन्तु आह ! उस के प्राणों का जीवन-स्पन्दन

उन्हीं नूपुरों के स्वर में स्वर भर गाने को
आज हो रहा क्यों इतना चंचल पल-पल ?
बैठ गया वह एक शिला पर, हृदय थाम कर,
बोला—'शान्त रहो, इतने न चलो, मेरे मन ।'
किन्तु न माना हृदय, दृगोंमें आँसू भर कर
बोला वह ऊपर को निज बाहें फैला कर :
'उस घाटी में, उस छाया के पास पहुँचने
तक के लिए मुझे कोई दे दे हे जीवन !'

उस अदृश्य छाया को लक्षित करता फिर वह
बोला, 'तुम से कब की थी पहिचान प्राण की ?
किस सोने के युग में, जब ये प्राण नये थे—
नयी सृष्टि में जब ये चंचल विचर रहे थे,
तुम्हें रूप से घिरी इन्हों ने प्रिय देखा था ?
मैं ने अब तक सुना नहीं था प्राणों का स्वर,
जो तुम को पुकारते रहते थे निशि-वासर ।
देख चाँदनी जिन्हें तुम्हारे चम्पक-मुख की
मधुर सुरभि कर देती थी शोभा से व्याकुल;
सुन कोकिल का करुण-नाद जो तुम्हें याद कर
रो उठते थे । घूम-घूम आषाढ़ मेघ से
तुम्हें न पा ही तो वसन्त के स्वयं सजाये
अपने ही विहार के लिए मनोहर पर्वत
मुझे हीन से लगते थे, अपने जीवन के ।
आह ! तुम्हारा ही अभाव तो इन नयनों में
जल बन कर बह उठता था सस्वर प्राणों में ।
मुझे आज तुम दीख पड़ी हो, प्रिये ! अचानक,
याचक को लक्ष्मी-सी, तम को चन्द्र-किरण-सी,
किन्तु सुनहला मौन तुम्हारा प्राणों को क्यों
कमल-सदृश है व्यथित कर रहा निश्चल जल में ?'

और चला वह, अपने पैरों की छाया से
भू पर की निष्कलंक चाँदनी के आनन पर
पद-पद पर कलंक चित्रित करता द्रुत गति से !
उस की वंशी की ध्वनि से छवि-सुप्त घाटियाँ,
लगी कूकने एक कोकिला-सी बहु स्वर कर :
उस की पद-चापें सुन कर विरहिणी हरिणियाँ
निद्रा के तम-सागर से निज मुख बाहर कर,
जगीं मधुर चाँदनी के मायामय जग में,
आशा से पथ पर चलतीं, पद-चापें पीतीं।

पहुँचा वह था जहाँ कर रहा जल कल-कल स्वर
छाया की वेणी को लहरों से छू-छू कर;
जहाँ पड़ी थी छाया देवदारु के नीचे,
मृदु दूर्वा पर, जल के उन्मादक स्पर्श को
नयन निमीलित कर मद की निद्रा में पीती;
पवन कर रहा था छाया का अंचल कम्पित—
सुप्त वासना को करता है यौवन जैसे
सौ-सौ मोती के टुकड़ों में टूट कर गिरी
चमक रही थी लहर-लहर पर स्वच्छ चाँदनी,
छाया में बैठ गया वह अपनी वंशी को
रख पैरों के पास, एक पद फैला कर के
और दूसरा मोड़, रख घुटने पर कुहनी,
कर-तल पर मुख निकलीं कुछ गहरी निश्वासें,
जैसे बुझता दीपक करता वमन अँधेरा,
जिस में उस के प्रिय जीवन को लय होना है !
एक रँगीला अन्धकार उड़ घेर कर उसे
भरने लगा सुगन्धित साँसें मृदु मर्मर कर।

उसी समय पश्चिम में ढलती मधुर चाँदनी
करुण भाव से उस के सुन्दर मुख पर गिर कर
लगी माँगने विदा, निराश मौन नयनों से;
भर आँखों में अश्रु उठा कर गीली पलकें,
देखा उस ने, कितनी सूनी करुण चाँदनी
अन्धकार में घूम रही है, एक अकेली।
तारों पर अपने पग धर, दिन-दिन कुम्हलाती,
देख रही धरती को सजल-सजल आँखों से,
निर्वासित नारी जैसे निज मातृ-भूमि को,
जिसे देखने को वह न फिरेगी जीवन में,
किन्तु रहेगी जो फिरती उस की आँखों में।

बोला वह, 'हे ग्रह-तारों की जननी, धरणी!
कितनी ताराएँ, माँ! तेरे गर्भ-शयन से
आयी हैं प्रकाश में, जिन को जननि! देखने
तुम फिरती हो अन्तरिक्ष में, और रात-दिन
जागी रहती हो, चिन्ता की चिर-अशान्ति-सी।
जितने रत्न तुम्हारी पुण्य-कोख से निकले,
उन सब में सुन्दर थी, माँ! यह सरल चाँदनी।
मन्थित कर के हृदय तुम्हारा जब निकली थी
अमरों की अभिलषित सुधा-सी यह प्रिय कन्या,
जननि! तुम्हारी कठिन तपस्या-सिद्धि मूर्ति-सी,
उस दिन, इस को भर अपनी पुलकित गोदी में,
चूम सरलता से, विकसा इस का सुन्दर मुख,
शोभा हुई तुम्हारी होगी, जननी, कितनी?
किया तुम्हारा होगा सुरासुरों ने पूजन,
भक्ति-भाव से झुक चरणों में नव अभिनन्दन।

३१

'फिर जब यह दिन-दिन कला-कला कर बढ़ती,
मणियों से खेलती तुम्हारे घर के बाहर,
बजा किरण-कृश हाथ, मार कर कल किलकारी,
तुम्हें बुलाती होगी 'माँ' उस काल प्रेम से
दौड़ न आती होगी तुम, तज काम अधूरा,
अपनी कन्या के पहले-पहले स्वर सुनने ?
गोदी में भर कर, अ-कलंक सरल मुख उस का,
अधरों में आये अपने प्राणों से छूने ?

'गये हाय ! वे दिन, वे बचपन के दिन सुख के
लगा अमिट लांच्छन बचपन के निर्मल मुख पर
एक रोग-सा जिस का कुछ उपचार ही नहीं
तुम कठोर बन गयीं जननि ! अपने ही ऊपर ?
लौटा लो, लौटा लो उस को, उस दुखिया को,
उसे बुला लो अपने उर में, उस का लांछन
अपने अंचल की छाया में, जननि ! छिपा लो !'
डूब चुकी थी करुण चाँदनी, औ' धरणी ने
उस व्यग्र प्रार्थना का उत्तर न दिया कुछ भी;
उस के स्वर को ध्वनित गुफाओं में कुछ क्षण
फिर सरिता की कलकल में गिर गये सदा को।
कमलों के बन में फिरते उस स्वर्ण-हंस को
हर ले गयी अचानक नभ की मुग्ध हवाएँ।

फिर न सुनाई दिया कहीं भी वह कल-कूजन;
लुप्त हुआ वह रूप धरा से, और हाय ! जो
उसे प्यार करते थे जीवित न रहे वे भी।

['जीतू' से]

गोपालकृष्ण कौल

[ज० १९२३]

पहली बूंद

वह पावस का प्रथम दिवस जब,
पहली बूँद धरा पर आयी।
अंकुर फूट पड़ा धरती से,
नव-जीवन की ले अँगड़ाई।

धरती के सूखे अधरों पर,
गिरी बूँद अमृत-सी आ कर।
वसुन्धरा की रोमावलि-सी,
हरी दूब पुलती-मुसकायी।
पहली बूँद धरा पर आयी।

आसमान में उड़ता सागर,
लगा बिजलियों के स्वर्णिम पर।
बजा नगाड़े जगा रहे हैं,
बादल धरती की तरुणाई।
पहली बूँद धरा पर आयी।

नीले नयनों-सा यह अम्बर,
काली पुतली-से ये जलधर।

करुणा-विगलित अश्रु बहा कर,
धरती की चिर-प्यास बुझायी।
बूढ़ी धरती शस्य-श्यामला
बनने को फिर से ललचायी।
पहली बूँद धरा पर आयी।

['राजधानी के कवि' से]

'अरुण' (पोद्दार रामावतार) [ज० १९२५]

मुग्ध मोर मन

निरख घोर घन, मुग्ध मोर-मन
जल-हिलोर में नाचे !
पर पसार गंगा-कछार-पर,
सावन-पवन-अनन्त ज्वार पर,
सजल प्रफुल्ल कदम्ब-डाल के
मधुर शोर में नाचे !
सरसे दिवस पावस का श्यामल
चंचल विद्युत, बादल केवल,
गान भरे गर्जन में जीवन
सघन भोर में नाचे !
अवनी पर आकाश गा रहा,
विरह, मिलन के पास आ रहा,
चारों ओर विभोर प्राण-
भकझोर घोर में नाचे ।
निरख घोर घन, मुग्ध मोर-मन
जल-हिलोर में नाचे ।

['कोशा' से]

गिरिधर गोपाल

[ज० १६२६]

काले वन की शाम

काले-काले वन में क्षण-क्षण ढलती जाती शाम है,
घायल-सी हर दिशा पड़ी, हर अभिलाषा नाकाम है।
फँसी सलोनी सोन-चिरैय्या अन्धकार के जाल में,
चमकीले कुहरे के विषधर लिपट गये तरु-डाल में,
गोधूली की छाँह सजीली बक-पाँतें लहरा रहीं,
किसी बड़े पुल के नीचे से ज्यों नौकाएँ जा रहीं,
खोज कुंज में बिखरे मोती रहीं ज्योति की रानियाँ,
जोगन-सी बातास डोलती कहती अजब कहानियाँ,
पशुओं की टोलियाँ वनों में सहसा ओझल हो गयीं,
लगता जैसे रेल किसी लम्बी सुरंग में खो गयी,
रहस-भरी अनजान गुफाओं में खोते ये रास्ते,
उन पंखों के ढेर बढ़े जो लेने फूल अकास के,
टूटे चूल्हे बुझी लकड़ियाँ छूटे चिह्न पड़ाव के,
रह-रह बेध रहे अन्तर-विष बुझे बाण फैलाव के,
अब बस अनदेखा अनजाना अब बस तिमिर अपार है,
नजर जिधर भी जाती है प्रश्नों की लगी कतार है,
सब का अपना बोझा सब की अपनी अपनी राह है,
कौन बँटाये पीर यहाँ तो सब का चेहरा स्याह है,
काले-काले वन में, लो ! ढल गयी अभागिन शाम है,
अरे किसी सुन्दर सपने का यह कैसा परिणाम है।

['युग चेतना' से]

रामकुमार चतुर्वेदी

[ज० १९२९]

पहली घटा

सुरचाप यह नहीं है, चूनर फहर रही है,
काली घटा नहीं है, वेणी बिखर रही है।
लो, दिग्वधू नयन में काजल लगा रही है।
गाओ, मल्हार गाओ, बरसात आ रही है!

तरुवर बहुत जले हैं, धरती बहुत तपी है,
दिन-रात चातकी ने माला बहुत जपी है।
लो, सिद्धि साधना को माथा झुका रही है।
गाओ, मल्हार गाओ, बरसात आ रही है।

डालें लचक रहीं हैं, झूले लपक रहे हैं,
पायल छमक रही है, कंगन खनक रहे हैं।
मेंहदी मृदुल करों के आगे लजा रही है।
गाओ, मल्हार गाओ, बरसात आ रही है।

बिजली चमक रही है, बूँदें बिखर रही हैं,
भौंरे बहक रहे हैं, कलियाँ सिहर रही हैं :
ठंडी हवा नशे में तन-मन डुबा रही है।
गाओ, मल्हार गाओ, बरसात आ रही है।

गाता किसान बिरहा, मुसकान आज फूटी,
लो खेत की दिशा में चल दी कृषक-वधूटी।
बिजली लजा-लजा कर मुखड़ा छिपा रही है।
गाओ, मल्हार गाओ, बरसात आ रही है।

मिट्टी महक रही है, जीवन नया जगेगा,
भू पर कदम-कदम पर पौधा नया उगेगा।
विश्वास की अटलता, अब रंग ला रही है।
गाओ, मल्हार गाओ, बरसात आ रही है।

घर में न आज बैठो, मौसम बड़ा सुहाना,
तन मेंह से बचे, पर, मन को कठिन बचाना,
झोंके मचल रहे हैं, कोयल बुला रही है।
गाओ, मल्हार गाओ, बरसात आ रही है।

['घटा के घुंघरू' से]

वीरेन्द्र मिश्र [ज० १९२८]

मंसूरी का राज

ठण्डी-ठण्डी छाँव है मीठा-मीठा राग है
धरती जैसी आँख में सपने जैसा बाग है।

हल्की-हल्की दूब है चलती-फिरती छाँव है,
उठती गिरती है हवा भूला-भूला गाँव है;
खोयी-खोयी धूप की बिखरी-बिखरी प्यास है,
झरनों-वाली बाँह में पर्वत क्या, आकाश है।

नीला-नीला व्योम है नीली-नीली रात है,
भीगे-भीगे फूल हैं झीनी झीनी बात है,
जंगल के सुनसान में प्राणों-सी गहराइयाँ,
गहरी-गहरी कन्दरा आहों-सी तनहाइयाँ।

ठंडक की अँगड़ाइयाँ गर्मी मेरी साँस में,
जैसे पत्ता एक ही कोई खेले ताश में।
चलती-फिरती बीन पर पत्तों का संगीत है—
देखो सुनता कौन है किस से किस की प्रीति है।

३२

बूँदाबाँदी देख कर आतप है पाताल में,
बूँदों की ही भीड़ है मैदानों के हाल में।
पर्वत मेरा मंच है छिड़ती जिस पर रागिनी,
गाता हूँ मैं झूम कर सुनती सारी यामिनी।

दुहराती संगीत है ऊँची-नीची वादियाँ
पतली सी पगडंडियाँ टेढ़ी-मेढ़ी घाटियाँ;
आँधी है झकझोरती झुकने वाली डाल को,
जुल्मी करता तंग है जैसे हर कंगाल को।

दृश्यों के सैलाब में रंगों की भरमार है,
लहरों की आवाज़ में गूँजा पारावार है;
किसलय-दुलहन डोलती मारुत के हिल्लोल में,
परिवर्तन के चिह्न हैं जगती के भूगोल में।

पर्वत है या मेघ है, बादल है या शृङ्ग है,
कहते कुछ बनता नहीं किस का कैसा रंग है,
बादल और पहाड़ के अंगों में है भेद क्या ?
दोनों ही मजदूर हैं बहता है ना स्वेद क्या ?

चश्मा हर पाषाण से फूटे मन के स्नेह-सा,
पेड़ों के झुक-झूम में बन जाता है गेह-सा,
ऊँची-नीची खाइयाँ टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता,
लगता है जैसे हमें इन से ही है वास्ता।

कैसे कोई छोड़ दे पा कर ऐसे कोष को ?
वर्णन करना है कठिन लिख चाहे सन्तोष को।
चट्टानोंकी भीड़ है साया है चट्टान का,
बहती फेनिल धार है कल-कल झर-झर गान का।

भागी आती धार है जैसे मेरी प्रियतमा
मिलने को इठला रही पा कर मस्ती का समाँ।
पर्वत चारों ओर है, वादी बीचो-बीच है—
जिस में भर कर मेघ भी मन को लेता खींच है।

मैं भी वादी में खड़ा खोया-सा हूँ डोलता,
कैसे क्या-क्या आँक लूँ—अपने मन में बोलता।
इतनी ऊँची हैं नहीं सिद्धान्तों की श्रेणियाँ
जितनी इस सुनसान में लटकी छवि की वेणियाँ।

गर्वीले आकाश पर मंसूरी का राज है,
उस को औरों पर नहीं अपने पर ही नाज़ है।
किरणों का अभिषेक ले रानी बैठी शान से,
मेरी ओर निहार कर कहती इतमीनान से :

'आया तू परदेस से मेरे ठंडे गाँव में,
किरनों जैसे गीत को बिखरा मेरी छाँव में;
भावों के वरदान से मेरा माथा चूम ले,
मैं भी तुझ में झूम लूँ तू भी मुझ में झूम ले।

'मैं तो तन की बीन हूँ तू है मन का गीत रे,
मन के गीतों के बिना होती है कब प्रीति रे।
आये मेरे पास तो डूबूँ तेरे गीत में,
जीतूँ तेरी हार में हारूँ तेरी जीत में।

'सिंहासन खाली पड़ा राजा तेरे वास्ते,
आ जा भँवरे की तरह फल-फूलों के रास्ते।
कैसा अच्छा व्योम है, खिलता मेरा फूल है।
झूला मेरी डाल का—दुनिया जाती झूल है।

'आमन्त्रण की बात पर पहली-पहली बार है,
तुझ को यदि स्वीकार है मुझ को कब इनकार है।
जाने कब से ढूँढ़ती तुझ को मैं आकाश में,
आखिर तू मिल ही गया मेरे ही आवास में।

'छेड़ ज़रा संगीत तू, पूछ ज़रा मन की व्यथा,
देखूँ तेरी कल्पना कहती है क्या-क्या कथा।
झूम कि मेरी प्यास की सीमाएँ हैं टूटती,
देख कि मेरे स्नेह की धाराएँ हैं फूटती।

'रानी के इस राज में, राजा ! अपना गीत गा,
मेरी बाज़ी हार कर अपनी बाज़ी जीत जा।
कैसा मीठा है समा मेरे नीलम देश का—
सानी मिलता है कहाँ मेरे लहरिल केश का ?

'मेरी ठंडी साँस का समझेगा क्या मर्म तू ?
अनबोला जो कुछ रहा समझेगा क्या शर्म तू।
आ शीतल हो प्यार से, सावन है, मधुमास है,
मेरे अन्धे प्राण पर हरा-हरा आकाश है।

'चारों ओर बहार है, चारों ओर खुमार है,
तू है, मैं हूँ, गीत है, हरियाला संसार है।
जीवन इस संसार का चिन्ताओं से दूर है,
यह यौवन का देश तो स्वर्गों से भरपूर है।

'पारिजात खिलता यहाँ नन्दन के सीमान्त में,
गुंजन करता डोल जा भँवरे मेरे प्रान्त में।
गीतों के चंचल भ्रमर, आमन्त्रण रस-पान का
किस को देता कौन है बिन-माँगे वरदान का।'

भूरे-भूरे शृंग पर जीवन-सी चट्टान है,
जिस पर बैठा हंस है—पंखों में तूफ़ान है।
पर्वत-खेतों पर बिछी हरियाली घनघोर है,
यौवन-सी निर्बन्ध है चंचल का मन मोर है।

रूमानी आकाश का फ़ीरोज़ी सिंगार है
शेफाली-सी भूमि पर ऊँचा तोरण-द्वार है।
एक बड़ी चट्टान ही है प्रहरी के नाम पर,
जो निर्मम निर्द्वन्द्व-सी डटी हुई है काम पर।

चलती-फिरती बीन पर पत्तों का संगीत है,
देखें सुनता कौन है, किस को किस से प्रीति है ?
ठंडक की अँगड़ाइयाँ, गर्मी मेरी साँस में,
जैसे पत्ता एक ही कोई खेले ताश में।

जंगल के सुनसान में प्राणों-सी गहराइयाँ,
गहरी-गहरी कन्दरा आहों-सी तनहाइयाँ,
नीला-नीला व्योम है नीली-नीली रात है,
भीगे-भीगे फूल हैं झीनी-झीनी बात है।

अम्बर ही तो झील है, दर्शन ही तो प्यास है,
झरने वाली बाँह में पर्वत क्या आकाश है।
हलकी-हलकी दूब है, चलती-फिरती छाँव है,
उठती-गिरती है हवा भूला-भूला गाँव है।

ठंडी-ठंडी छाँव है, मीठा-मीठा राग है-
आँसू जैसा फ़ाल है, सपने-जैसा बाग है।

['लिखनी बेला' से]

राजेन्द्र प्रसाद सिंह

[ज० १९३०]

शरद की स्वर्ण-किरण

शरद की स्वर्ण-किरण बिखरी !

दूर गये कज्जल घन, श्यामल अम्बर में निखरी !
शरद की स्वर्ण किरण बिखरी !

मन्द समीरण, शीतल सिहरन, तनिक अरुण द्युति छायी
रिमझिम में भींगी धरती यह चीर सुखाने आयी,
लहरित शस्य-दुकूल हरित, चंचल अंचल-पट धानी,
चमक रही मिट्टी न, देह यह दमक रही नूरानी,
अंग-अंग पर धुली-धुली शुचि सुन्दरता सिहरी।

राशि-राशि फूले फहराते कास धवल वन-वन में,
हरियाली पर तोल रही उड़ने को नील गगन में,
सजल सुरभि देते नीरज मधुकर की अबुझ तृषा को,
जागरूक हो चले कर्म के पन्थी लक्ष्य-दिशा को,
ले कर नयी स्फूर्ति कण-कण पर नवल ज्योति उतरी।

मोह-घटा फट गयी प्रकृति की, अन्तर्व्योम विमल है,
अन्धस्वप्न की व्यर्थ बाढ़ का घटता जाता जल है,
अमलिन सलिला हुई सरी शुभ, स्निग्ध कामनाओं की,
छू जीवन का सत्य, वायु बह रही स्वच्छ साँसों की,
अनुभवमयी मानवी-सी यह लगती प्रकृति-परी।

['भूमिका' से]

तीसरा अवतरण

अनुभावन

३३

केसरी कुमार

[ज० १९०९]

साँझ

नहीं,
साँझ
एक असभ्य आदमी की
जम्हाई है,
जो भरी सभा में
आँखें मींच लेता,
नसें सीधी करने को
नंगी बाँहों को
तनों-सी ऊपर उठाता
और नीडों के भूखे उद्ग्रीव
शावक-सी उँगलियों को
चटखाता है—
टुट्-टुट् ।

नहीं,
साँझ
एक शरीर लड़की है
जो लिखे सफ़ों की तितलियाँ उड़ाती है
बादल-शैली में

कलम के माथे से वुड-कट बनाती है
और रन्ना से निकली
लाल आँखों को देख
धूसरित फ्राक में मुँह छिपा
रोने लगती है ।

नहीं,
साँझ
एक रद्दी स्याही–सोख है
जो काले मूल पर लाल संशोधनों को,
लाल संशोधनों पर काले मूल को,
उलटा लेता है, काकपद समेत
और समन्वय के द्वन्द्व में
स्वयं बेकाम हो जाता है ।

नहीं,
मैं मरने की मनोदशा में
नहीं हूँ ।

किरण होगी
अभी गोलार्द्ध पर,
गिरि-शृङ्ग पर,
कंचनजंघा पर,
आसपास
पश्चिम पीछे
रामगिरि पर हस्तीव ।

नहीं,
मैं मरने की मनोदशा में
नहीं
हूँ।
नाचो शंकर,
नाचो कै—
लाश पर।

['नकेन के प्रपद्य' से]

'अज्ञेय' (सच्चिदानन्द वात्स्यायन) [ज० १९११]

माघ-फागुन-चैत

अभी माघ भी चुका नहीं
पर मधु का गरवीला अगवैया
कर उन्नत शिर
अँगराई ले कर उठा जाग
भर कर उर में ललकार—
भाल पर धरे फाग की लाल आग ।
धूल बन गयी नदी कनक की
लोट-पोट न्हाती गौरैया,
फूल-फूल कर साथ-साथ जुर
ढीठ हो गये चिरी-चिरैया ।

आया हचकोला फाग का
खग लगे परखने नये-नये सुर
अपने-अपने राग का
(बिसरा कर सुध, कल बन जावेगा
यही बगूला आग का !)
'बिगड़ी बयार को ले जाने दो
सूखे पीले पात पुरानी चैत के ।
इठलाती आयी फुनगी,
पावस में डोल उठी हरखायी नैया—

दिन बदला उन का, अब है काल खेवया !'
सहसा झरा फूल सेमर का
गरिमा-गरिम, अकेला, पहला,
क्या टूट चला सपना वसन्त का
चौबारा, चौमहला
लाल-रुपहला ?
झर-झर-झर लग गयी झड़ी-सी
टहनी पर बस टँगी रह गयी अर्थहीन उखड़ी-सी
टुच्ची-बुच्ची ढोंडियाँ लँहूरी
पर-खोंसे झुलसे पाखी-सी
खिसियाये मुँह बाये ।
पहले ही सकुची-सिमटी,
दब गयी पराजय के बोझे से लद
किसान की झुकी मड़ैया ।

क्रमशः आये
दिन चैती : सौगात नयी क्या लाये ?
बाल बिखेरे, अपना रूखा सिर धुनती
(नाचे ता-थैया !)
बेचारी हर-झोंके-मारी, बिरस, अकिंचन
सेमर की बुढ़िया मैया !

['इत्यलम्' से]

कतकी पूनो

छिटक रही है चाँदनी,
मदमाती, उन्मादिनी,
कलगी-मौर सजाव ले
कास हुए हैं बावले,
पकी ज्वार से निकल शशों की जोड़ी गयी फलाँगती—
सन्नाटे में बाँक नदी की जगी चमक कर झाँकती !

कुहरा झीना और महीन,
झर-झर पड़े अकासनीम,
उजली-लालिम मालती
गन्ध के डोरे डालती;
मन में दुबकी है हुलास ज्यों परछाईं हो चोर की—
तेरी बाट अगोरते ये आँखें हुईं चकोर की !

['हरी घास पर क्षणभर' से]

प्रथम किरण

•

भोर की
प्रथम किरण
फीकी :
अनजाने
जागी हो
याद
किसी की—
अपनी
मीठी
नीकी ।
धीरे-धीरे
उदित
रवि का
लाल-लाल
गोला
चौंक कहीं पर
छिपा
मुदित
बन-पाखी
बोला ।
दिन है
जय है
यह बहु-जन की :

प्रणति,
लाल रवि,
ओ जन-जीवन,
लो यह
मेरी
सकल साधना
        तन की
        मन की
वह बन-पाखी
जाने गरिमा
महिमा
मेरे छोटे
चेतन
        छन की

['बावरा अहेरी' से]

●

वैशाख की आँधी

नभ अन्तर्ज्योतित है
        पीत किसी आलोक से,
बादल की काली गुदड़ी का मोती
        टोह रही है बिजली
        ज्यों बरछी की नोक से।

३४

कुछ जो घुमड़ रहा है क्षिति में
उसे नीम के झरते बौर रहे हैं टोक-से :
'ठहरो—अभी झूम जावेगा अग-जग बरबस
तीखे मद की झोंक से !'

हहर-हहर घहराया
काला बद्दल :
लेकिन पहले आया
झक्कड़
जाने कहाँ-कहाँ की धूल का :
स्वर लाया सरसर पीपल का
मर्मर कछार के झाऊ का
खड़खड़ पलास का, अमलतास का,
और झरा रेशम सिरीष के फूल का ।
आया पानी :
अरी धूल झगड़ैल,
चढ़ी पछवा के कन्धों पर तू थी इतराती,
ले काट चिकोटी अब भी :
बस एक स्नेह की बूँद और तू हुई पस्त
पैरों में बिछ-बिछ जाती
सोंधी गन्ध उड़ाती ?
सह सकें स्नेह, वह और रूप होते हैं, अरी अयानी !
नाच, नाच मन, मुदित मस्त :
आया पानी ।

['इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' से]

रात में गाँव

•

झींगुरों की लोरियाँ
सुला गयी थीं गाँव को
झोंपड़े हिंडोलो-सी झुला रही है
धीमे-धीमे
उजली कपासी धूम-डोरियाँ ।

['अरी ओ करुणा प्रभामय' से]

शमशेरबहादुर सिंह [ज० १९११]

उषा

प्रात नभ था—बहुत नीला शंख जैसे,
भोर का नभ,
राख से लीपा हुआ चौका
(अभी गीला पड़ा है ।)
बहुत काली सिल
ज़रा से लाल केसर से
कि जैसे धुल गयी हो;
स्लेट पर या लाल खड़िया चाक
मल दी हो किसी ने ।
नील जल में या
किसी की गौर, झिलमिल देह जैसे
हिल रही हो ।
और—
जादू टूटता है इस उषा का अब :
सूर्योदय हो रहा है ।

['कुछ कविताएँ' से]

घिर गया है समय का रथ

•

मौन सन्ध्या का दिये टीका
रात
काली
आ गयी
सामने ऊपर, उठाये हाथ-सा
पथ बढ़ गया।

घेरने को दुर्ग की दीवार मानों
अचल विन्ध्या पर
कुंडली खोली सिहरती चाँदनी ने
पंचमी की रात।
घूमता उत्तर दिशा को सघन पथ
संकेत में कुछ कह गया।

चमकते तारे लजाते हैं
प्रेरणा का दुर्ग।
पार पश्चिम के, क्षितिज के पार
अमित गंगाएँ बहा कर भी
प्राण का नभ धूल-धूसर है।
भेद ऊषा के दिये सब खोल,
हृदय के कुल भाव,
रात्रि के, अनमोल।

दुःख झड़ता सजल, झलझल ।
आँख मलता पूर्व स्रोत ।
पुनः
पुनः जगती जोत ।

घिर गया है समय का रथ कहीं ।
लालिमा से मढ़ गया है राग ।
भावना की तुंग लहरें
पन्थ अपना, अन्त अपना जान
रोलती हैं मुक्ति के उद्गार ।

['दूसरा सप्तक' से]

●

सागर-तट

यह समन्दर की पछाड़
तोड़ती है हाड़ तट का—
अति कठोर पहाड़ ।

पी गया हूँ दृश्य वर्षा का :
हर्ष बादल का
हृदय में भर कर हुआ हूँ हवा-सा हलका ।

धुन रही थीं सर
व्यर्थ व्याकुल मत्त लहरें ।

वहीं आ-आकर
जहाँ था मैं खड़ा
मौन;
समय के आघात से पोली, खड़ी दीवारें
जिस तरह घहरें
एक के बाद एक, सहसा।
चाँदनी-सी उँगलियाँ चंचल
क्रोशिये से बुन रही थीं चपल
फेन-झालर बेल, मानो।
पंक्तियों में टूटती-गिरती
चाँदनी में लोटती लहरें
बिजलियों-सी कौंदती लहरें
मछलियों-सी बिछल पड़तीं तड़पती लहरें
बार-बार।

स्वप्न में रौंदी हुई-सी विकल सिकता
पुतलियों-सी मूँद लेती
आँख।

यह समन्दर की पछाड़
तोड़ती है हाड़ तट का—
अति कठोर पहाड़।
यह समन्दर की पछाड़

['कुछ कविताएँ' से]

केदारनाथ अग्रवाल

[ज० १९११]

बसन्ती हवा

हवा हूँ, हवा मैं
बसन्ती हवा हूँ !

वही, हाँ वही, जो
युगों से गगन को
बिना कष्ट-श्रम के
सम्हाले हुए हूँ;
हवा हूँ, हवा मैं
बसन्ती हवा हूँ !

वही, हाँ वही, जो
धरा का बसन्ती
सुसंगीत मीठा
गुँजाती फिरी हूँ,
हवा हूँ, हवा मैं
बसन्ती हवा हूँ !

वही, हाँ वही, जो
सभी प्राणियों को
पिला प्रेम-आसव
जिलाये हुए हूँ।

हवा हूँ, हवा मैं
बसन्ती हवा हूँ !

क़सम रूप की है !
क़सम प्रेम की है !
क़सम इस हृदय की
सुनो बात मेरी—
अनोखी हवा हूँ :
बड़ी बावली हूँ,
बड़ी मस्त मौला :
नहीं कुछ फिकर है,
बड़ी ही निडर हूँ;
जिधर चाहती हूँ
उधर घूमती हूँ,
मुसाफिर अजब हूँ !

न घर-बार मेरा;
न उद्देश्य मेरा;
न इच्छा किसी की,
न आशा किसी की;
न प्रेमी, न दुश्मन,
जिधर चाहती हूँ—
उधर घूमती हूँ !
हवा हूँ, हवा मैं
बसन्ती हवा हूँ !

जहाँ से चली मैं
जहाँ को गयी मैं—
शहर, गाँव, बस्ती,

३५

नदी, रेत, निर्जन,
हरे खेत, पोखर,
झुलाती चली मैं ।
झुमाती चली मैं ।
हवा हूँ, हवा मैं
बसन्ती हवा हूँ !

चढ़ी पेड़ महुआ,
थपाथप मचाया;
गिरी धम्म से फिर,
चढ़ी आम ऊपर,
उसे भी झकोरा,
किया कान में 'कू',
उतर कर भगी मैं,
हरे खेत पहुँची—
वहाँ, गेहुओं में
लहर खूब मारी,
पहर-दो-पहर क्या
अनेकों पहर तक
इसी में रही मैं !
खड़ी देख अलसी
लिये शीश कलसी,
मुझे खूब सूझी-
हिलाया-झुलाया
गिरी पर न कलसी !
इसी हार को पा,
हिलायी न सरसों,
झुलायी न सरसों,

मज़ा आ गया तब,
न सुध-बुध रही कुछ;
बसन्ती नवेली
भरे गात में थी !
हवा हूँ, हवा मैं
बसन्ती हवा हूँ !

मुझे देखते ही
अरहरी लजायी;
मनाया-बनाया,
न मानी—न मानी;
उसे भी न छोड़ा—
पथिक आ रहा था,
उसी पर ढकेला;
लगी जा हृदय से,
कमर से चिपक कर;
हँसी ज़ोर से मैं,
हँसी सब दिशाएँ;
हँसे लहलहाते
हरे खेत सारे;
हँसी चमचमाती
भरी धूप प्यारी;
बसन्ती हवा में
हँसी सृष्टि सारी !
हवा हूँ, हवा मैं
बसन्ती हवा हूँ !!

['युग की गंगा' से]

तूफ़ान

मैं घोड़ों की दौड़
वनों के सिर पर तड़-तड़ दौड़ा,
पेड़ बड़े से बड़ा
चिरौटे-सा चिल्लाया चौंका,
पत्तों के पर फड़-फड़ फड़के,
उलटे, उखड़े, टूटे,
मौन अँधेरे की डालों पर
साँड पठारी छूटे।

['लोक और आलोक' से]

खेत का दृश्य

आसमान की ओढ़नी ओढ़े
धानी पहने फसल घँघरिया,
राधा बन कर धरती नाची,
नाचे हँसमुख कृषक सँवरिया।

माती थाप हवा की पड़ती,
पेड़ों की बज रही ढुलकिया,
जी-भर फाग पखेरू गाते
ढरकी रस की राग-गगरिया
मैंने ऐसा दृश्य निहारा
मेरी रही न मुझे खबरिया—
खेतों के नर्त्तन उत्सव में
भूला तन-मन गेह-डगरिया।

['लोक और आलोक' से]

नागार्जुन [ज० १९११]

वसन्त की अगवानी

दूर कहीं पर अमराई में कोयल बोली,
परत लगी चढ़ने झींगुर की शहनाई पर ।
वृद्ध वनस्पतियों की ठूँठी शाखाओं में
पोर-पोर टहनी-टहनी का लगा दहकने
टूसे निकले, मुकुलों के गुच्छे गदराये,
अलसी के नीले फूलों पर नभ मुसकाया ।
मुखर हुई बाँसरी, उँगलियाँ लगीं थिरकने,
पिचके गालों तक पर है कुंकुम न्यौछावर,
टूट पड़े भौंरे रसाल की मंजरियों पर ।
मुरक न जावें सहजन की ये तुनुक टहनियाँ,
मधुमक्खी के झुंड भिड़े हैं डाल-डाल में
जौ-गेहूँ की हरी-हरी बालों पर छायी
स्मित-भास्वर कुसुमाकर की आशीष रँगीली !
शीत समीर, गुलाबी जाड़ा, धूप सुनहली
जग वसन्त की अगवानी में बाहर निकला ।

['सतरंगे पंखों वाली' से]

बादल को घिरते देखा है

अमल धवल गिरि के शिखरों पर, बादल को घिरते देखा है।
छोटे-छोटे मोती जैसे, अतिशय शीतल वारि-कणों को
मानसरोवर के उन स्वर्णिम-कमलों पर गिरते देखा है।
तुंग हिमाचल के कन्धों पर, छोटी-बड़ी कई झीलों के,
श्यामल, शीतल, अमल सलिल में
समतल देशों से आ-आकर
पावस की ऊमस से आकुल,
तिक्त मधुर बिस-तन्तु खोजते, हंसों को तिरते देखा है।

एक-दूसरे से वियुक्त हो,
अलग-अलग रह कर ही जिन को
सारी रात बितानी होती।
निशाकाल के चिर-अभिशापित
बेबस उन चकवा-चकई का,
बन्द हुआ क्रन्दन—फिर उन में
उस महान सरवर के तीरे
शैवालों की हरी दरी पर, प्रणय-कलह छिड़ते देखा है।

कहाँ गया धनपति कुबेर वह, कहाँ गयी उस की वह अलका ?
नहीं ठिकाना कालिदास के व्योम-वाहिनी गंगाजल का
ढूँढ़ा बहुत परन्तु लगा क्या, मेघदूत का पता कहीं पर
कौन बतावे यह यायामय, बरस पड़ा होगा न यहीं पर।
जाने दो, वह कवि-कल्पित था,

मैंने तो भीषण जाड़ों में, नभ-चुम्बी कैलाश-शीर्ष पर
महामेघ को झंझानिल से गरज-गरज भिड़ते देखा है।
दुर्गम बर्फ़ानी घाटी में,
शत-सहस्र फ़ुट उच्च शिखर पर
अलख नाभि से उठने वाले
अपने ही उन्मादक परिमल
के ऊपर धावित हो-हो कर
तरल तरुण कस्तूरी-मृग को अपने पर चिढ़ते देखा है।
शत-शत निर्झर-निर्झरिणी-कल
मुखरित देवदारु-कानन में
शोणित-धवल भोजपत्रों से छायी हुई कुटी के
रंग-बिरंगे और सुगन्धित फूलों से कुन्तल को साजे,
इन्द्रनील की माला डाले शंख-सरीखे सुघड़ गले में,
कानों में कुवलय लटकाये, शतदल रक्त-कमल वेणी में,
रजत-रचित मणि-खचित कलामय पानपात्र द्राक्षासव पूरित,
रखे सामने अपने-अपने लोहित चन्दन की त्रिपदी पर
नरम निदाग बाल कस्तूरी-मृग-छालों पर पल्थी मारे,
मदिरारुण आँखों वाले उन उन्मद किन्नर-किन्नरियों की'
मृदुल मनोरम अँगुलियों को वंशी पर फिरते देखा है।

['कवि-भारती' से]

'राकेश' (रामइकबाल सिंह) [ज० १९१३]

तालाबी पँखेरू

माघ, मकर-संक्रान्ति उषा का आनन सस्मित,
अलकतरा-सा काला कुहरा नभ में मुद्रित ।
उदयोन्मुख अरुणाभ सूर्य्य पूर्वीय क्षितिज का,
उदयाचल के शिखरों में गोरज-सा फीका ।

भ्रम के कृष्ण तन्तु ने बुन कर छाया-अम्बर,
अन्ध आवरण डाला सूने दिगदिगन्त पर ।
दूर-दूर तक जिधर दृष्टि जाती है पैनी,
देख रहा छाया-आभा की आँखमिचौनी ।

गाँव न कहीं, न कहीं पन्थ का पता-ठिकाना,
चलना केवल किसी दिशा में चलते जाना ।
सूई-सी चुभती तन में सन्-सन् पुरवाई,
पड़ी धरा चुपचाप ओढ़ कर हरी दुलाई ।

विवर-शून्य अजगर-से टेढ़-मेढ़ नाले,
सोये अलस शीत-निद्रा में ज्यों मतवाले
केवल यत्र-तत्र तट पर मछुओं के छाजन,
छोटे-छोटे निर्मित,-सरपत जिन के छादन ।

३६

आस-पास चौरस खेतों में तितरे-बितरे,
मटर, केराव एक-दूसरे पर चढ़ छितरे।
भौगर्भिक उर्वरा-शक्ति ने मादकता भर,
हरियाली बिखेर डाली पृथिवी के ऊपर।

छोटा-सा तालाब यहीं पर एक मनोहर,
निर्जन में सुषमालोकित ज्यों मानसरोवर।
वर्ण-वर्ण के विहग-स्वरों से कलरव-पूरित,
वर्ण-वर्ण की पर्ण-लताओं से अवगुंठित।

जीवन के संचित मंगल मधु-घट से सिंचित,
कोलाहल से दूर, शान्त मुद्रा में चित्रित।
जहाँ खड़े सिलही कछार में सघन, सीखपर,
और विचरते लगलग, घोंघिल, जाँघिल, गैबर।

गीली धरती पर ढीले कीचड़ से लथपथ,
खोज रहा लोहा-सा रँग निज भूला-सा पथ।
जहाँ विरागी आँजन बगुला ध्यान लगाये,
एक टाँग पर खड़ा किनारे तन सिकुड़ाये।

मखमल की टोपी पहने कलपेटी कुररी,
लगती चित्ताकर्षक, टिकरी दल से बिछुड़ी
काले औ' सुफ़ेद बुज्जे निर्भीक विहरते,
तिमिर-ज्योति के द्वैत-बिम्ब प्रस्तारित करते।

भूरी दुम की चैती जल के छिछले तल पर,
घनी घास की जड़ें नोचती ऊब-डूबकर।
चकई-चकवा मिलन-सूत्र में बँधे अखंडित,
प्रेम-तत्त्व के मधुर स्रोत करते संचारित।

मादा को प्रसन्न करने की कला दिखाता,
नर-बत्तख दोनों पैरों से जल उछलाता ।
टिटिहरियाँ वह आगे-आगे दौड़ी जातीं,
ज़ोर-ज़ोर से 'डिड-ही-डू-इट' शोर मचातीं ।

मकड़ी की-सी लम्बी-लम्बी टाँगे रख कर,
टीमू दौड़ लगाती दलदल में शतदल पर ।
अपत ठूँठ पर बैठी नागिन पंख फुला कर,
लाल छौंह पुतली फड़का कर उड़ा लाल सर ।

घूम-घूम घिरनी-सा घिरिन-परेवा सुन्दर,
ढेले-सा वह गिरा शून्य से जल पर मर कर ।
ऊपर पूँछ उठाती नीचे तुरत गिराती,
चारुदर्शिणी खंजन प्राकृत कला दिखाती ।

दाबिल, दहक, तिदारी अन्य अनेक विहंगम,
करते जहाँ विनोद-नृत्य कल क्रीड़ा हरदम ।
कोई चम्पा-से चटकीले, कोई सादे,
कोई लगते काले पहने मैल लबादे ।

कोई पीत सिलेटी, कोई गहरे भूरे,
कोई नील सिलेटी, कोई हलके भूरे,
कोई चूने-से सुफ़ेद, कोई कजरीले,
कोई नारंगी-से, रीठे-से चमकीले ।

चोंच किसी की दाबिल-सी चपटी कोदैली,
और किसी की बरछी-सी तीखी मटमैली ।
किसी-किसी की सींकी-सी चिकनी, घूमैली,
किसी-किसी की छोटी खुरपी-सी छितरैली ।

सीधी आड़ी-सी, हँसिया-सी वक्र किसी की,
संठी-सी पतली दूधैली चोंच किसी की।
किसी-किसी के सीने में ललछौंह चकत्ता,
कहीं किसी के डैने पर बादामी चित्ता।

चरण किसी के दोफंकी टहनी-से छितरे,
और किसी के जुटे परस्पर भूपर चतरे।
कोई रहते घोंघे, कछुए, मेढक खा कर,
कोई नरई, मोथे, करमी, गोंद चबा कर।

कितने आये हिम-आच्छादित शैल पार कर,
कितने वन-उपवन, मरुथल, मैदान पार कर।
कितने गर्मी के आते ही दीख न पाते,
कितने बारह मास यहीं पर दिवस बिताते।

एक-दूसरे को ढकेल करते हुरदंगे,
एक-दूसरे से सुन्दर बहु रंग-बिरंगे।
स्थूल दृष्टि देखा करती है एक रूप को,
विविध रूप में नाम जगत के व्यक्त रूप को।

सूक्ष्म दृष्टि को गोचर होते एक भाव से,
विविध भाव अव्यक्त वस्तु के एक भाव से।
विविध वर्ण के विहग-वृन्द जल में प्रतिबिम्बित,
एक वर्ण में रूप-सरोवर के आलोकित।

एक वर्ण के विहग क्षितिज पर स्वप्नाभासित,
वर्ण-वर्ण के रँग आभरणों में अभिव्यंजित।
सुन्दर इन का रहन-सहन, सुन्दरतर पावन,
सुन्दर असन, विभूषण सुन्दर, सुन्दर भाषण।

सुन्दर इन का जगत, न जिस में तन को बन्धन,
सुन्दर इन का जगत, न जिस में मन को बन्धन ।
सुन्दर इन का मिलन, न उर से उर को गोपन,
सुन्दर इन का रमण, न लज्जा का उद्‌बोधन ।

सुन्दर इन का भवन, प्रकृति का विस्तृत प्रांगण,
सुन्दर इन का सामूहिक यह कला-प्रदर्शन ।

यह वसुन्धरा कभी न लगती इतनी प्रियकर,
लता, कुंज, द्रुम लगते केवल मूक, तुच्छतर ।
यदि न विश्व की वंशी में सुर का सरगम भर,
छन्द बजाते समुच्छ्‌वसित खग मधुर मद्दत्तर ।

प्रकृति-पृष्ठ पर धूप-छाँह का पट-परिवर्त्तन,
हर्ष-शोक से अभिशापित जीवन-क्रम के क्षण ।
स्वराकार बन वाणी मेरी कल-कूजन कर,
लाओ प्रगति-चेतना मृत साँसों में सुखकर ।

['चट्टान' से]

भवानीप्रसाद मिश्र

[ज० १९१४]

सतपुड़ा के जंगल

सतपुड़ा के घने जंगल
नींद में डूबे हुए-से,
ऊँघते अनमने जंगल।

झाड़ ऊँचे और नीचे,
चुप खड़े हैं आँख मींचे,
घास चुप है, कास चुप है
मूक शाल, पलाश चुप है।
बन सके तो धँसो इन में,
धँस न पाती हवा जिन में,
सतपुड़ा के घने जंगल,
ऊँघते अनमने जंगल।

सड़े पत्ते, गले पत्ते,
हरे पत्ते, जले पत्ते,
वन्य पथ को ढँक रहे से
पंक-दल में पले पत्ते।
चलो इन पर चल सको तो,
दलो इन को दल सको तो,
ये घिनौने, घने जंगल
ऊँघते अनमने जंगल।

अटपटी-उलझी लताएँ,
अलियों को खींच खायें,
पैर को पकड़े अचानक,
प्राण को कस लें कपायें,
बला की काली लताएँ
बला की पाली लताएँ
लताओं के बने जंगल,
ऊँघते अनमने जंगल ।

मकड़ियों के जाल मुँह पर,
और सिर के बाल मुँह पर,
मच्छरों के दंश वाले,
दाग़ काले-लाल मुँह पर,
वात-झंझा वहन करते,
चलो इतना सहन करते,
कष्ट से ये सने जंगल,
ऊँघते अनमने जंगल ।

अजगरों से भरे जंगल,
अगम, गति से परे जंगल
सात-सात पहाड़ वाले,
बड़े-छोटे झाड़ वाले,
शेर वाले, बाघ वाले,
गरज और दहाड़ वाले,
कम्प से कनकने जंगल,
ऊँघते अनमने जंगल ।

इन वनों के खूब भीतर,
चार मुर्गे, चार तीतर
पाल कर निश्चिन्त बैठे,
विजनपन के बीच बैठे
झोपड़ी पर फूस डाले
गोंड तगड़े और काले;

जब कि होली पास आती,
सरसराती घास गाती,
और महुए से लपकती
मत्त करती बास जाती,
गूँज उठते ढोल इन के,
गीत इन के गोल इन के
सतपुड़ा के घने जंगल,
ऊँघते अनमने जंगल।

जागते अँगड़ाइयों में,
खोह-खड्डों, खाइयों में,
घास पागल, कास पागल,
शाल और पलाश पागल,
लता पागल, वात पागल,
डाल पागल, पात पागल,
मत्त मुर्गे और तीतर,
इन वनों के ख़ूब भीतर;
क्षितिज तक फैला हुआ-सा
मृत्यु तक मैला हुआ-सा
क्षुब्ध, काली लहर वाला
मथित, उत्थित जहर वाला,

मेरु वाला, शेष वाला,
शम्भु और सुरेश वाला
एक सागर जानते हो,
उसे कैसा मानते-हो ?
ठीक वैसे घने जंगल,
ऊँघते अनमने जंगल,
धँसो इन में डर नहीं है,
मौत का यह घर नहीं है,

उतर कर बहते अनेकों, कल-कथा कहते अनेकों,
नदी, निर्झर और नाले, इन वनों ने गोद पाले ।
लाल पंछी सौ हिरन-दल, चाँद के कितने किरन-दल,
झूमते बन-फूल, फलियाँ, खिल रहीं अज्ञात कलियाँ
हरित दूर्वा, रक्त किसलय, पूत पावन पूर्ण रसमय
सतपुड़ा के घने जंगल, लताओं के बने जंगल ।

['गीत फ़रोश' से]

●

मंगल-वर्षा

पीके फूटे आज प्यार के पानी बरसा री ।
हरियाली छा गयी, हमारे सावन सरसा री ।
बादल आये आसमान में, धरती फूली री,
अरी सुहागिन, भरी माँग में भूली-भूली री,
बिजली चमकी भाग सखी री, दादुर बोले री,
अन्ध प्राण ही बही, उड़े पंछी अनमोले री,

३७

छन-छन उठी हिलोर, मगन मन पागल दरसा री।
पीके फूटे आज प्यार के, पानी बरसा री।

फिसली-सी पगडंडी, खिसली आँख लजीली री,
इन्द्र-धनुष रँग-रँगी, आज मैं सहज रँगीली री,
रुन-झुन बिछिया आज, हिला-डुल मेरी बेनी री,
ऊँचे-ऊँचे पैंग, हिंडोला सरग-नसेनी री,

और सखी सुन मोर! विजन वन दीखे घर-सा री।
पीके फूटे आज प्यार के, पानी बरसा री।

फुर-फुर उड़ी फुहार अलक हल मोती छाये री,
खड़ी खेत के बीच किसानिन कजरी गाये री,
झर-झर झरना झरे, आज मन-प्राण सिहाये री,
कौन जन्म के पुण्य कि ऐसे शुभ दिन आये री,

रात सुहागिन गात मुदित मन साजन परसा री।
पीके फूटे आज प्यार के, पानी बरसा री।

['दूसरा सप्तक' से]

त्रिलोचन शास्त्री

[ज० १९१७]

आँखों के आगे

हरा-भरा संसार है आँखों के आगे ।

ताल भरे हैं, खेत भरे हैं,
नयी-नयी बालें लहराये
झूम रहे ये धान हरे हैं,
झरती हैं झीनी मंजरियाँ,
खेल रही हैं खेल लहरियाँ,

जीवन का विस्तार है आँखों के आगे ।

उड़ती-उड़ती आ जाती हैं
देस-देस की रंग-रंग की,
चिड़ियाँ सुख से छा जाती हैं,
नये-नये स्वर सुन पड़ते हैं,
नये भाव मन में जड़ते हैं,

अनदेखा उपहार है आँखों के आगे ।

गाता अलबेला चरवाहा
चौपायों को साथ सँभाले,
पार कर रहा है वह बाहा;

गये साल तो व्याह हुआ है,
अभी-अभी बस जुआ हुआ है,
घर, घरनी, परिवार है आँखों के आगे।

•

['प्रतीक' से]

●

मेंहदी और चाँदनी

मेंहदी की अरधान उड़ी। देखा, फिर ठहरा;
कपिश गहगहे विमल फूल खिलखिला रहे हैं,
अपने सौरभ के स्वर मिल कर मिला रहे हैं।
हवा चली, मानो वे बोले, निशि-दिन पहरा
यहाँ हमारा रहता है। गहरे से गहरा
भेद हमारे यहाँ खुलेगा। दिला रहे हैं
हम मेंहदी से मर्म सत्य का; पिला रहे हैं
अमृत घ्राण को। स्वार्थ यहाँ तक आते ठहरा।

वर्षा-सीकर-भरी हवा, मेंहदी की महँ-महँ
जी करता है, मैं अंजलि भर-भर पी जाऊँ!
जैसे फुल-सुँघनी गाती है वैसे गाऊँ।
वृक्ष, लताएँ, पौधे, तृण, धरती पर डह-डह
करप रहे हैं। मेघ-नगर में ज्योत्स्ना टह-टह
उग आयी अब। आँखें सहस कहाँ से लाऊँ!

['दिगन्त' से]

प्रभाकर माचवे

[ज० १९१७]

वसन्तागम

गा रे गा हरवाहे दिलचाहे वही तान :
खेतों में पका धान,

मंजरियों में फैला आमों का गन्ध-ध्यान
आज बने हैं फल के ज्यों निशान,
फूलों में फलने के हैं प्रमाण !

खेतिहर लड़की की भोली-सी आँखों में, निम्बुओं की फाँकों में,
मुसकाता अज्ञात, हँसता है सब जहान,
खेतों में पका धान।

मधुरितु रानी महान्,
मानिनी, वसन्ती रंग चोली झलक जिसकी,
ढलके आँचल धानी लहरा-सा,
आँखों में आकर्षण भी खासा,
युग-युग का प्यासा-सा छलके दिलासा जहाँ,
उतरी उन सरसों के खेतों पर मायाविनि
हलके—हलके—हलके।
फूल में छिपे निशान हैं फल के।

उतरी वासन्तिका,
तहलका-सा छाया तरु-दुनिया में, छुटा मान,
स्वागत में कोकिला का पिंडुकी का जुटा गान।
'आशा ही आशा है'
आज अनिर्बन्ध, उष्ण, अरुण प्रेम-परिभाषा—
पल्लव की पल्लव से सुरभिमय यही भाषा—
'आशा ही आशा है...'
वासन्ती की दिगन्त-रिनिनिनिनमयि शिंजिनियाँ,
पड़ती जो भनक कान,
परिवर्तित लक्ष-लक्ष श्रुतियों में रोम-रोम,
पंखिल हैं पंच-प्राण।

गा रे गा हरवाहे, छेड़ मन चाहे राग—
खेतों में मचा फाग!

['तार सप्तक' से]

गजानन मुक्तिबोध

[ज० १९१७]

दूर तारा

तीव्र गति
अति दूर तारा,
वह हमारा
शून्य के विस्तार नीले में चला है।
और नीचे लोग
उसको देखते हैं, नापते हैं गति, उदय औ' अस्त का इतिहास।
किन्तु इतनी दीर्घ दूरी
शून्य के उस कुछ-न-होने से बना जो नील का आकाश,
वह एक उत्तर
दूरबीनों की सतत आलोचनाओं को,
नयन-आवर्त्त के सीमित निदर्शन या कि दर्शन यत्न को।
वे नापने वाले लिखें उसके उदय औ' अस्त की गाथा,
सदा ही ग्रहण का विवरण।
किन्तु वह तो चला जाता
व्योम का राही,
भले ही दृष्टि के बाहर रहे—उसका विपथ ही बना जाता।
और जाने क्यों,
मुझे लगता कि ऐसा ही अकेला नील तारा,
तीव्र-गति
जो शून्य में निस्संग

जिस का पथ विराट्—
वह छिपा प्रत्येक उर में,
प्रति हृदय के कल्मषों के बाद,
जैसे बादलों के बाद भी है शून्य नीलाकाश।
उस में भागता है एक तारा,
जो कि अपने ही प्रगति-पथ का सहारा
जो कि अपना ही स्वयं बन चला चित्र,
भीति-हीन विराट-पुत्र।
इसलिए प्रत्येक मनु के पुत्र पर विश्वास करना चाहता हूँ।

['तार सप्तक' से]

नलिनविलोचन शर्मा

[ज० १९१८]

सागर-सन्ध्या

बालू के ढूह हैं जैसे बिल्लियाँ सोई हुईं,
उन के पंजों से लहरें दौड़ भागतीं ।
सूरज की खेती चर रहे मेघ-मेमने
विश्रब्ध, अचकित ।

मैं महाशून्य में चल रहा—
पीली बालू पर जंगम बिन्दु एक—
तट-रहित सागर एवं अम्बर और धरती के
काल-प्रत्न त्रयी-मध्य से हो कर ।

मेरी गति के अवशेष एक मात्र
लक्षित ये होते :
सिगरेट का धुआँ वायु पर;
पैरों के अंक बालू पर
टंकित, जिन्हें ज्वार भर देगा आ कर ।

['नकेन के प्रपद्य' से]

३८

गिरिजाकुमार माथुर

[ज० १९१८]

आज हैं केसर रंग रँगे वन

आज हैं केसर रंग रँगे वन
रंजित शाम भी फागुन की खिली पीली कली-सी
केसर के वसनों में छिपा तन
सोने की छाँह-सा
बोलती आँखों में
पहिले वसन्त के फूल का रंग है।
गोरे कपोलों पै हौले से आ जाती
पहिले ही पहिले के
रंगीन चुम्बन की-सी ललाई।
आज हैं केसर रंग रँगे
गृह, द्वार, नगर, वन
जिन के विभिन्न रँगों में है रँग गयी
पूनों की चन्दन-चाँदनी।

जीवन में फिर लौटी मिठास है
गीत की आखिरी मीठी लकीर-सी
प्यार भी डूबेगा गोरी-सी बाहों में
ओठों में, आँखों में
फूलों में डूबे ज्यों

फूल की रेशमी-रेशमी छाँहें।
आज हैं केसर रंग रँगे वन।

['तार सप्तक' से]

●

चित्रमय धरती

ये धूसर, साँवर, मटियाली काली धरती
फैली है कोसों आसमान के घेरे में,
रूखों छाये नालों के हैं तिरछे ढलान,
फिर हरे-भरे लम्बे चढ़ाव,
झरबेरी, ढाक, कास से पूरित टीलों तक,
जिन के पीछे छिप जाती है
गड़बाटों की रेखा गहरी,
ये सोंधी घास-ढकी रूँदें
हैं धूप बुझी हारें भूरी,
सूनी-सूनी उन चरगाहों के पार कहीं
धुँधली छाया बन चली गयी है
पाँत दूर के पेड़ों की;
उन ताल वृक्ष के झोंरों के आगे दिखती
नीली पहाड़ियों की झाईं
जो लटें पसारे हुए जंगलों से मिल कर
है एक हुई।

यह चित्रमयी धरती फैली है कोसों तक
जिस के वन-पेड़ों के ऊपर
नीमों, आमों, वट, पीपल पर
निखरे-निखरे मौसम आते
कच्ची मिट्टी के गावों पर
भर जाते हैं खेरे और खेत
फिर रंग-बिरंगी फसलों से
जिन में सूरज की धूप दूध बन रम जाती;
हर दाने में रच जाता अमरित चन्दा का।

इस धूसर, साँवर धरती की सोंधी उसाँस,
कच्ची मिट्टी का ठंडापन,
मटियाला-सा हलका साया
तन मन में साँसों में छाया
जिस की सुधि आते ही पड़ती
ऐसी ठंडक इन प्रानों में
ज्यों सुबह ओस-गीले खेतों से आती है
मीठी हरियाली-खुशबू मन्द हवाओं में।

['धूप के धान' से]

●

ऋतु-चित्र

आज फूल रही कचनार
श्याम नहीं महलों में

सखी साजें बसन्ती सिंगार
सेंदुर भरें अलकों में।
चाँद के संग हँसे
बात कहते रुक
बाँह छोड़ें-कसें
कामिनी-गन्ध जैसी उमर न समाय
रेशम चीर सुनहलों में,
आज फूल रही कचनार
श्याम नहीं महलों में।
आये उड़-उड़ पवन,
करे ठंडा बदन,
रूखे फीके नयन,

बीती जाये बसन्ती बहार
रैन बीते पलकों में,
आज फूल रही कचनार
श्याम नहीं महलों में।

['धूप के धान' से]

नेमिचन्द्र जैन

[ज० १९१८]

सुनोगे ?

सुनो,
चीड़ के सनसनाते हुए पेड़,
मेरी कहानी सुनोगे ?
यहाँ तुम खड़े हो
गगन में तने,
सिर उठाये हुए गर्व से,
गहराइयाँ झाँकते से अतल की,
उधर सामने चोटियाँ हैं,
शिखर,
जो बरफ़ से घिरे हैं,
जो बादलों का हृदय चीर खुलते
कली से
अछूते, अचुम्बित—
शिखर जो अडिग हैं, अगम हैं, महत् हैं,
मनुज के अमिट स्वप्न-से,
लालसा-से :
शिखर ये तुम्हारे सखा हैं युगों के,
पहली सुबह की किरन मुस्करा कर,
सदा छेड़ जाती इन्हें भी, तुम्हें भी ।

ओ चीड़ के सनसनाते हुए पेड़
मेरी कहानी सुनोगे ?
कहूँ मैं ?
तुम्हें भी विकल जिन्दगी की कथा सब
सुना दूँ ?
कि मैं लाँघना चाहता था अगम को
तड़प थी कि
बौने करों को बढ़ा कर पकड़ लूँ
अभी चाँद-सूरज,
कि मैं चाहता था सभी कुछ,
बहुत-से बड़े स्वप्न थे
उस हृदय में,
नहीं थी, नहीं, शक्ति ही बस नहीं थी
उठे बाहुओं में,
तड़प थी बहुत, किन्तु क्षमता नहीं थी—
इसी से गरुड़ के सभी पंख
टूटे हुए हैं,
विगत स्नेह की स्निग्ध हरियालियाँ
आज
झुलसी हुई हैं,
खंडिता मूर्तियाँ हैं
जो चीड़ के पेड़,
मैं हूँ मरुस्थल,
मैदान जलता हुआ-सा
पड़ा जो शिखर के चरण से बहुत दूर,
जलता, सुलगता,
अभी रात भी सामने घाटियों में
अकेली पड़ी

गिन रही तारिकाएँ,
चुप-चुप अँधेरा बिछा है
उतरती हुई मौन पगडंडियों पर।
तुम्हीं बस,
किसी याद में जग रहे हो,
मुखर हो,
सागर गरजता किसी बेकली का तुम्हारे हृदय में—
इसी से अभी चाहता था सुनाना
तुम्हें मैं—
सुनोगे ?
ओ सनसनाते हुए चीड़ के पेड़ !
मरुभूमि की भी कहानी सुनोगे ?

['काव्यधारा' से]

भारतभूषण अग्रवाल

[ज० १९१९]

फूटा प्रभात

फूटा प्रभात, फूटा विहान,
बह चले रश्मि के प्राण, विहग के गान, मधुर निर्झर के स्वर
झर-झर, झर-झर।
प्राची का यह अरुणाभ क्षितिज,
मानो अम्बर की सरसी में
फूला कोई रक्तिम गुलाब, रक्तिम सरसिज।
धीरे-धीरे,
लो, फैल चली आलोक रेख
धुल गया तिमिर, बह गयी निशा;
चहुँ ओर देख,
धुल रही विभा, विमलाभ कान्ति।
अब दिशा-दिशा
सस्मित,
विस्मित,
खुल गये द्वार, हँस रही उषा।

खुल गये द्वार, दृग, खुले कंठ,
खुल गये मुकुल।
शतदल के शीतल कोषों से निकला मधुकर गुंजार लिये—
खुल गये बन्ध, छवि के बन्धन।

३६

जागो जगती के सुप्त बाल।
पलकों की पंखुरियाँ खोलो, खोलो मधुकर के अलस बन्ध
दृग भर
समेट तो लो यह श्री, यह कान्ति,
बही आती दिगन्त से यह छवि की सरिता अमन्द
झर-झर, झर-झर।

फूटा प्रभात, फूटा विहान,
छूटे दिनकरके शर ज्यों छवि के वह्नि-बाण
(केशर-फूलों के प्रखर बाण)
आलोकित जिन से धरा
प्रस्फुटित पुष्पों के प्रज्वलित दीप,
लौ-भरे सीप।

फूटीं किरणें ज्यों वह्नि-बाण, ज्यों ज्योति-शल्य,
तरु-बन में जिन से लगी आग।
लहरों के गीले गाल, चमकते ज्यों प्रवाल,
अनुराग-लाल

['तार सप्तक' से]

●

धूल-भरी आँधी

रूखी, तपी, जलती हुई दोपहर के बाद
यह धूल-भरी आँधी।
सब कुछ पर रेत जमी, मन तक ज्यों किसकिसा रहा है।

बेरंगे, गरम दिन —छटपटाती रातें—
पूछता हूँ रह-रह कर, किस से क्या जानूँ :

'ओ रे ! बता मुझ को :
यह सब है किस लिए, क्या है इस का निदान ?
कब होगा अन्त इस जड़ता का, द्विधा का ?
कब तक यों और तपूँ—
कब तक ?
कब आयेगी वह वर्षा की एक बूँद, स्नेह की एक कनी
अगली हरियाली की प्रतीक बनी ?
उत्तर में किन्तु बस सिर पर यह आसमान—मटमैला, रेतीला,
और यह दरवाजे-फटफटाती आँधी ।

['ओ अप्रस्तुत मन' से]

रामानन्द दोषी [ज० १९२१]

संझा वेला

संझा बेला
पंछी लौटे
पाँत बनाये,
अपने-अपने
पर फैलाये,
ध्यान लगाये—
कहीं दूर नीड़ों में
उन के नेह-जगत के
चिह्न सरीखे
धरे हुए
कुछ कोमल तिनके।
और जहाँ,
खग-शावक अपनी
नन्हीं-नन्हीं चोंचें खोले
बाट जोहते होंगे,
मन में भाव लिये अनतोले-बोले!

इधर त्वरा है,
उधर प्रतीक्षा।

दोनों ओर
लगा है मन में
सुधियों की छवियों का मेला।
संझा बेला!
संझा बेला—
मैं एकाकी!
सोच रहा हूँ—
कितना बाकी रहा चुकाना
कर्ज धरा का?
इतना ले-दे कर भी
कितना रह जाता है खोना-पाना?
जहाँ न हो आया हूँ,
ऐसा कौन ठिकाना?
कौन ठौर ऐसा है
मुझ को जहाँ न जाना?
मन भ्रमित,
थकित पग,
धूमिल हो आया मेरा मग।
नीड़ न कोई,
भीड़ न कोई,
रहा अकेला—
संझा बेला।

['गीले पंख' से]

मदन वात्स्यायन (लक्ष्मीनिवास सिंह) [ज० १९२२]

उषा स्तवन

जिस के स्वागत में नभ ने बरसा दी हैं जोन्हियाँ सभी,
और बड़ ने छाँह बिछा डाली है,
वह तू ऊषा, मेरी आँखों पर तेरा स्वागत है ।

पत्तों की श्यामता के द्वीप डुबोते हुए हुस्न-हिना के
गन्ध-ज्वार-सी
हरित-श्वेत जो उदय हुई है,
वह तू ऊषा, मेरी आँखों पर तेरा स्वागत है ।

एक वस्त्र चम्पई रेशमी, उँगली में नग-भर पहने
स्नानालय की धरे सिटकनी–
वह तू ऊषा, मेरी आँखों पर तेरा स्वागत है !

क्षण-भर को दिख गयी दूसरे घर में जा छिपने के पहले
अपने पति से भी शरमा कर,
वह तू ऊषा, मेरी आँखों पर तेरा स्वागत है !

['तीसरा सप्तक' से]

लक्ष्मीकान्त वर्मा

[ज० १९२२]

भोर का धुँधलका

अँगीठी के धुएँ-सा
भोर का धुँधलका :
उग रहा प्राची में
रोटी का फुलका;
गर्म गैस छूट रही
चित्ते-भरे छिलके
छिटक-छिटक छिटके
(भोर के तारे
शून्य से हलके)
दूध के उबाल-सा
सबेरा चमका
महावर पर पायल का
झब्बा भी झमका
कसेरू के छिलके-सी
रात छिल बिछल गयी।

भोर का तड़का
ज्योति का फुलका !

['धुएँ की लकीरें' से]

रूपनारायण त्रिपाठी [ज० १९२२]

गाँव का विहान

भोर हुई पेड़ों की बीन बोलने लगी,
पात-पात हिले डाल-डाल डोलने लगी।

कहीं दूर किरनों के तार झनझना उठे।
सपनों के स्वर डूबे धरती के गान में।
लाखों ही लाख दिये तारों के खो गये
पूरब के अधरों की हलकी मुसकान में।

कुछ ऐसे पूरब के गाँव की हवा चली
खपरैलों की दुनियाँ आँख खोलने लगी।

जमे हुए धुएँ-सी पहाड़ी है दूर की,
काजल की रेख-सी कतार है खजूर की।
सोने का कलस लिये उषा चली आ रही
माथे पर दमक रही आभा सिन्दूर की।

धरती की परियों के सपनीले प्यार में
नई चेतना नई उमंग घोलने लगी।

कुछ ऐसे भोर की बयार गुनगुना उठी
अलसाये कुहरे की बाँह सिमटने लगी ।
नरम-नरम किरनों की नई-नई धूप में
राहों से पेड़ों की छाँह लिपटने लगी ।

लहराई माटी की धुली-धुली चेतना
फसलों पर चुहचुहिया पाँख तोलने लगी ।

['माटी की मुसकान' से]

४०

हरिनारायण व्यास

[ज० १९२३]

वर्षा के बाद

पहली असाढ़ की सन्ध्या में नीलांजन बादल बरस गये ।

फट गया गगन में नील मेघ,
पय की गगरी ज्यों फूट गयी,
बौछार ज्योति की बरस गयी,
झर गयी बेल से किरन-जुही ।

मधुमयी चाँदनी फैल गयी किरनों के सागर बिखर गये ।

आधे नभ में आषाढ़ मेघ
मद-मन्थर गति से रहा उतर,
आधे नभ में है चाँद खड़ा
मधु हास धरा पर रहा बिखर,

पुलकाकुल धरती नमित-नयन, नयनों में बाँधे स्वप्न नये ।

हर पत्ते पर है बूँद नयी
हर बूँद लिये प्रतिबिम्ब नया,
प्रतिबिम्ब तुम्हारे अन्तर का
अंकुर के उर में उतर गया,

भर गयी स्नेह की मधु-गगरी, गगरी के बादल बिखर गये ।

['दूसरा सप्तक' से]

रांगेय राघव

[ज० १९२३]

फागुन

पिया चली फगनौटी कैसी गन्ध उमंग-भरी
डफ पर बजते नये बोल, ज्यों मचकीं नयी फरी।
चन्दा की रुपहली ज्योति है रस से भींग गयी,
कोयल की मदभरी तान है टीसें सींच गयी।

दूर-दूर की हवा ला रही हलचल के जो बीज,
ममाखियों में भरती गुनगुन करती बड़ी किलोल।
मेरे मन में आती है बस एक बात, सुन, कन्त—
क्यों उठती है खेतों में अब भला सुहागिनि बोल ?

सी-सी-सी कर चली बड़ी हचकोले भरके ढीठ
पल्ला मैंने साधा अपना हाय जतन कर नींठ।
डफ के बोल सुनूँ यों कब तक सारी रैन ढरी—
पिया चली फगनौटी अब तो अँखिया नींद भरी।

['कविताएँ-५७' से]

ठाकुरप्रसाद सिंह [ज० १९२४]

पात झरे

पात झरे फिर-फिर होंगे हरे।
साखू की डाल पर उदासे मन--
उन्मन का क्या होगा ?
पात-पात पर अंकित चुम्बन--
चुम्बन का क्या होगा ?
मन-मन पर डाल दिये बन्धन--
बन्धन का क्या होगा ?
हासों के मोल लिये क्रन्दन--
क्रन्दन का क्या होगा !
पात झरे गलियों-गलियों बिखरे !

कोयलें उदास मगर फिर-फिर वे गायेंगी,
नये-नये चिह्नों से राहें भर जायेंगी,
खुलने दो कलियों की ठिठुरी ये मुट्ठियाँ
माथे पर नयी-नयी सुबहें मुसकायेंगी।

गगन नयन फिर-फिर होंगे भरे,
पात झरे फिर-फिर होंगे हरे।

['वंशी और मादल' से]

दिन वसन्त के

दिन वसन्त के
राजा-रानी से तुम दिन वसन्त के,
आये हो हिम के दिन बीतते
दिन वसन्त के ।

पात पुराने पीले झरते हैं झर-झर कर,
नयी कोपलों ने श्रृंगार किया है जी भर,
फूल चन्द्रमा का झुक आया है धरती पर,
अभी-अभी देखा मैंने वन को हर्ष भर ।

कलियाँ लेते फलते-फूलते,
झुक-झुक कर लहरों पर झूमते,
आये हो हिम के दिन बीतते
दिन वसन्त के !

['वंशी और मादल' से]

नरेशकुमार मेहता [ज० १९२४]

•

मालवी फागुन

['बनपाखी सुनो' से]

पीले फूल कनेर के

['बनपाखी सुनो' से]

किरण-धेनुएँ

['दूसरा सप्तक' से]

[कवि की ओर से प्रकाशन की अनुमति देने की असमर्थता प्रकट की जाने के कारण ये कविताएँ संकलन में न दी जा सकीं—सम्पादक]

जगदीश गुप्त [ज० १९२४]

नैनीताल की दोपहर

शिखरों से उतर रहे बादल जैसे रुई,
ऊर्ध्वमुखी गुच्छों की सुइयों से गेरुई—
चीड़ की कतारों से कसी-बँधी राह पर,
चितकबरी धूप बिछी चीतल की खाल-सी।

रुपहली मछलियों-सी, झोंकों की धार में,
तैर रहीं बाजों की पत्तियाँ बयार में,
मन की गहराई के भीतर तक झाँकती,
कूलों पर दीठ झुकी मजनूँ की डाल-सी।

शुभ्र-जलद-वलयित तरु हरित देवदारु के,
पल्लव-कर आशिष-सी देते रहते झुके,
पर्वत के गर्वोन्नत चट्टानी शीश पर,
निर्झरिणी उलझ रही रेशम के जाल-सी।

सिन्दूरी नावों पर फहर रहे दूधिया
पालों की नोकों ने जल का मन छू दिया,
हरी चटक लहरों पर थर-थर-थर काँपती
सूरज की-परछाँईं सोने के थाल-सी।

काफल का स्वाद अभी होठों पर सो रहा।
जी यों ही बिखर-बिखर जाने को हो रहा।
उस मरकत घाटी के आँचल की ओट में—
बादल-सा अटक रहा मेरा मन आलसी।

झिल्ली की झनकारें, बेले के बोल-सी,
प्राणों में डोल रहीं हिलते हिंडोल-सी,
अनचाहे दर्द उठा, पलकों पर छा गया,
सुधियों से आँख भरी बरसाती ताल-सी।

['शब्द वंश' से]

साँझ के बादल

जल्दी से
कंघी कर
जूड़े में चाँद खोंस,
उलझे बालों के गुच्छे लपेट
फेंक दिये खिड़की से जो काली रात ने
सोन-नीर-भरे गहर कुंकुम के तट वाले ताल में,
वे ही ज्यों आँखों के आस-पास तैर रहे,
स्वर्णारुण जलद-खंड चुप संझा-काल में।

['शब्द वंश' से]

विजयदेवनारायण साही

[ज० १९२४]

रात में गाँव

सो रहा है गाँव ।
खेतियों की अनगिनत मेंड़ें
कि धरती के दुलारे वक्ष को
उँगलियों से पकड़
बच्चों की सलोनी नींद में सुकुमार
सो रहा है, गाँव ।

धूल का वह बुलबुला, जिस पर
अँधेरा बाज़ है डैने पसारे
से रहा नव प्रात—
तम में काँपता धुँधला कुहासा मौन :
चल रही है साँस ।

जहाँ पेड़ों की तमिस्रा
और काली हो गयी है,
निविड औ' निष्कम्प,
वहीं,
स्थिर अवसाद की मज़बूत परतों बीच

४१

जलते स्वप्न-सा
टिमटिमाता दीप ।

यह नहीं है मौत,
केवल नींद है,

['तीसरा सप्तक' से]

अनिलकुमार [ज० १९२४]

सिन्दुरिया साँझ खरी

सिन्दुरिया साँझ खरी।
नखशिख रँगी हुई किरणों में पश्चिम से उभरी।
दिशि-दिशि से उँडेलती बादल केशर चन्द्रन के,
तिरती गोरी एक बलाका पंख खोल मन के,

वधू षोडशी छिपती-छिपती झलकी लाज भरी।
सिन्दुरिया साँझ खरी।

दिशा गोपियाँ हुई इंगुरी नभ वनमाली है,
रीत रहा रँग किरणों का पिचकारी खाली है :
रंगवती राधिका अकेली अपने भवन खरी :
सिन्दुरिया साँझ खरी।

अब सन्ध्या की अंजलियों में उड़ते दल पंछी,
तिर जाते सागर गुलाल का कुछ चंचल पंछी,
भरती है रोली अबीर की श्यामा रैन-परी।
सिन्दुरिया साँझ खरी।

['धर्मयुग' से]

शान्ति मेहरोत्रा

[ज० १९२६]

ओ माँ बयार

सूरज को, कच्ची नींद से
जगाओ मत।
दुध-मुँहे बालक-सा
दिन भर झुँझलायेगा
मचलेगा, अलसायेगा
रो कर, चिल्ला कर,
घर सिर पर उठायेगा।
आदत बुरी है यह
किन्तु बालक तुम्हारा है,
ओ माँ बयार!
थपकियाँ दे-देकर सुला दो
इसे बादल उढ़ा दो
इस तरह रुलाओ मत।
सूरज को कच्ची नींद से
जगाओ मत।

['नयी कविता' से]

धर्मवीर भारती [ज० १९२६]

नवम्बर की दोपहर

अपने हल्के-फुल्के उड़ते स्पर्शों से मुझ को छू जाती है
जार्जेट के पीले पल्ले-सी यह दोपहर नवम्बर की !

आयी-गयीं ऋतुएँ पर वर्षों से ऐसी दोपहर नहीं आयी
जो क्वाँरेपन के कच्चे छल्ले-सी
इस मन की उँगली पर
कस जाये और फिर कसी ही रहे
नितप्रति बसी ही रहे, आँखों में, बातों में, गीतों में,
आलिंगन में घायल फूलों की माला-सी
वक्षों के बीच कसमसी ही रहे ।

भीगे केशों में उलझे होंगे थके पंख
सोने के हंसों-सी धूप यह नवम्बर की
उस आँगन में भी उतरी होगी
सीपी के ढालों पर केसर की लहरों-सी
गोरे कन्धों पर फिसली होगी बिन आहट
गदराहट बन-बन ढली होगी अंगों में ।

आज इस वेला में
दर्द ने मुझ को
और दुपहर ने तुम को
तनिक और भी पका दिया :
शायद यही तिल-तिल कर पकना रह जायेगा
साँझ हुए हंसों-सी दुपहर पाँखें फैला
नीले कोहरे की झीलों में उड़ जायेगी,
यह है अनजान दूर गाँवों से आयी हुई
रेल के किनारे की पगडंडी
कुछ क्षण संग दौड़-दौड़
अकस्मात् नीले खेतों में मुड़ जायेगी···

['सात गीत वर्ष' से]

●

साँझ का बादल

ये अनजान नदी की नावें
जादू के-से पाल
उड़ाती
आतीं
मन्थर चाल।

नीलम पर किरनों
की साँझी

एक न डोरी
एक न माँझी,
फिर भी लाद निरन्तर लातीं
सेन्दुर और प्रवाल !

कुछ समीप की
कुछ सुदूर की,
कुछ चन्दन की
कुछ कपूर की,
कुछ में गेरू, कुछ में रेशम
कुछ में केवल जाल ।

ये अनजान नदी की नावें
जादू के-से पाल
उड़ाती
आतीं
मन्थर चाल ।

['सात गीत वर्ष' से]

घाटी का बादल

जाने कब, किस गुहानीड से उड़ कर गुप-चुप
मेघ-धूम का योजन-विस्तृत पक्षी सहसा
प्रगट हो गया घाटी के सुदूर छोर पर
गहरे भूरे, मीलों लम्बे डैने खोले

प्रात-धूप की ज़रतारी ओढ़नी लपेटे
अभी-अभी जागी
खुमार से भरी
नितान्त कुमारी घाटी
इस कामातुर मेघ-धूम के
औचक आलिंगन में पिस कर
रतिश्रान्ता-सी मलिन हो गयी !

थका हुआ बादल
पश्चिम के श्याम निरावृत शिखरों पर
शीतल कपोल धर
क्षण भर गहरी नींद सो गया ।

धीरे-धीरे
मूर्च्छित घाटी में जैसे कुछ साँसें लौटीं
अलस झकोरे, देवदारु में, चीड़-कुंज में
गन्ध-लदे, मादक, भीगे-से
मेघ-धूम ने करवट ली—
अँगड़ाई में ज्यों
सौ-सौ गहरे भूरे डैने आगे पसरे,
उड़े,
खड़े पर्वत शिखरों से टकरा कर
मँड़राये,
मुड़े—
कटानों में,
दर्रों में भटके
फिर ढालों पर धीमे-धीमे हाँफ-हाँफ कर चढ़ने लगे
बटोही जैसे ।

जहाँ अभी घाटी थी लहर-धारियों वाली,
हरे खेत थे,
लाल छतों वाले छोटे पर्वती गाँव थे,
वहाँ नहीं है कुछ भी अब—

वह जादू था—
वह इन्द्रजाल था
लुप्त हो गया !
सच है केवल मेघ-धूम यह
ढालों से टकराते क्षीर महासागर-सा
फेंक रहा है उजला फेना
लाल छतों वाले छोटे पर्वती गाँव
या हरे खेत
या लहर-धारियों वाली घाटी
ये थे केवल मूँगा-मछली-सीप-सिवारें
जो धाराओं की उछाल में ऊपर आयें :
कुछ क्षण ऊपर तैरे, फिर जलमग्न हो गये ।
नीचे मेघ-धूम का सूना-सूना सागर
ऊपर केवल नभ

गुम-सुम-सा, उदासीन-सा
और बीच में निराधार-सा बिना नींव का पूरा पर्वत ।
कैसे अचल खड़ा है—
क्या यह भी जादू है ?
ढालों पर चुप-चाप खड़े हैं
बाँजों के छितरे-छितरे वन ।
उलटी हुई पुतलियों जैसे
बाँजों के नोकीले पत्ते
उलटे औ' फिर
श्वेत हो गये ।

४२

नीचे के कंटक-झाड़ों में अटक-अटक कर
ऊपर चढ़ता जाता है अजगर-सा बादल
तने, डालियाँ, पत्ते पहले भूरे पड़ते,
लगता जैसे पीछे हटते
धीरे-धीरे पुँछी लकीरों-से मिट जाते !

कुछ भी नहीं रहा :
उत्तुङ्ग शिखरमाला वाला गर्वीला पर्वत
रंगों के कच्चे धब्बे-सा धुला, बह गया—
घाटी, गाँव, खेत, वन, झरने,
सकल सृष्टि ज्यों धुआँ-धुआँ अणुओं में
विशृंखल विभक्त हो बिखर गयी है।
शेष बचा हूँ केवल मैं
या मेरे चारों ओर दूर तक फैला हुआ सफ़ेद अँधेरा;
बाक़ी सब कुछ नष्ट हो गया :
गाँव जहाँ पर मेरा घर था—
पगडंडी; जिन पर चल मैं शिखरों तक पहुँचा—
जंगल, जिस में बड़ी साँझ तक भटका खोया—
झरने, जिन में थके धूल से सने पाँव धो थकन मिटायी
सब कुछ-सब कुछ-नष्ट हो गया।
शेष बचा हूँ मैं
या मुझ को घेरे उजली धूम्र-शून्यता।

•

धीरे-धीरे हार रहा हूँ,
इस ऊँचाई पर चढ़ कर ही
जान सका हूँ—हम सब •

क्या हैं ?
सिर्फ़;
बहुत ऊँचे पहाड़ पर चढ़ते बौने–

बौना–जिस को केवल दो पग दीख रहा है :
दो पग आगे
दो पग पीछे,
दो पग ऊपर
दो पग नीचे,
दो पग की ही केवल जिस की ज्ञान-परिधि है।
कहाँ पड़ेगा ग़लत क़दम
औ' मीलों लम्बी घाटी मुझ को खा जायेगी।

यह अथाह शून्यता !
डरा मैं
हाथों से टटोल कर किस को खोज रहा हूँ
यह है पत्थर; ये हैं जड़ें,
किन्तु यह क्या है ?
अँधियारे में नरम परस-सा
किस का हाथ छू गया मुझ को ?
मैं हूँ एक दूसरा बौना
पगडंडी से जरा अलग हट
साथ तुम्हारे मैं चलता आया हूँ अब तक।
हारो मत, साहस मत छोड़ो
मैं भी हूँ बौना, बामन हूँ
किन्तु तीन पग माँगे हैं मैंने धरती से
दो पग तुम को दीख रहा है

उसे पार कर बढ़ो
तीसरा पग तो मुझ में सार्थक होगा
मुझ पर छोड़ो,
हर मनुष्य बौना है लेकिन
मैं बौनों में बौना ही बन कर रहता हूँ—
हारो मत; साहस मत छोड़ो
इस से भी अथाह शून्य में
बौनों ने ही तीन पगों में धरती नापी ।'

•

पतला पड़ने लगा।
दृष्टिरोधी वह परदा,
सहसा मुखर हो उठी वह निश्शब्द शून्यता ।
दीखे नहीं,
मगर चीड़ों ने सन्-सन् कर मदमाती गन्धों वाले
पवन-सँदेसे भेजे,
झुरमुट में सहमी चिड़ियों ने
दबे कंठ से मुझे पुकारा,
दूर कहीं सुन पड़ा पहाड़ी गाने का स्वर ।
थोड़ा-सा विश्वास लौट कर आया मुझ में ।
दीख नहीं पड़ते हैं,
पर इस गहन कुहा में
कितने ही जंगली रास्ते आते-जाते
पथिकों से अब भी सजीव हैं,
अपराजित हैं जिन में चलने की आकांक्षा ।
दीख नहीं पड़ता है सूरज
पर दो शिखरों बीच झर रही
दिव्य ज्योति-सी धूप धुँईली ।

नदियाँ नीचे चमक उठीं रूपाडोरी-सी,
और दूधिया शीशे में से
झलक उठे हैं वृक्ष बाँज के, पुल लोहे के,
धीरे-धीरे परतें कटने लगीं धूम की
यहाँ-वहाँ पर
पिघले सोने के पानी-सी
धूप टपकने लगी
गाँव खिल गये फूल से।
बादल जैसे आया वैसे लौट गया है
केवल कुछ बादल के पीछे छूटे टुकड़े
छायादार झाड़ियों में विश्राम कर रहे
जैसे धौरी-उजली गायें।

एक अकेला चंचल बादल
चाँदी के हिरने-सा घाटी में चरता है।

['सात गीत वर्ष' से]

कुँवर नारायण

[ज० १९२७]

जाड़ों की एक सुबह

रात के कम्बल में
दुबकी उजियाली ने
धीरे से मुँह खोला,
नीड़ों में कुलबुल कर,
अलसाया-अलसाया,
पहला पंछी बोला :
दूर कहीं चीख उठा
सीले स्वर से इंजन,
भर्राता, खाँस-खूँस
फिर छटा कहँर-कहँर,
कड़ुवी आवाज़ों से
खामोशी चलनी कर,
सिसकी पर सिसकी भर
गयी ट्रेन क्षितिज पार :

क्रमशः ध्वनि डूब चली,
चुप्पी ने झुँझला कर
मानों फिर करवट ली,
ओढ़ लिया ऊपर तक

खींच सन्नाटे को,
धीरे से उढ़का कर
निद्रा के खुले द्वार :

बह निकली तेज़ हवा
पेड़ों से सर-सर-सर,
काँप रहे ठिठुरे-से
पत्ते थर-थर-थर-थर,
शबनम से भीगा तन
सुमन खड़े सिहर रहे,
चितकबरी नागिन-सी
भाग रही शीत रात,
लुक-छिप कर आशंकित
लहराती पौधों में
बिछलन-सी चमकदार,
छोड़ गयी कोहरे की
केंचुल अपने पीछे,
डँसती ठंडी बयार :

तालों के समतल तल
लहरों से चौंक गये
सपनों की भीड़ छँटी,
निद्रालस पलकों से
मँडराते चेहरों की
व्यक्तिगत रात हटी;

धीमे हलकोरों में
नीम की टहनियों का
निर्झर स्वर मर्मर कर

डरता है वृक्षों से
प्राणों में हर-हर भर,
शिशुवत् तन-मन दुलार :

फूलों के गुच्छों से
मेघ-खंड रंग-भरे,
झुक आये मखमल के
खेतों पर रुक ठहरे,
पहनाते धरती को
फुलझड़ियों के गजरे;
प्राची के सोतों से
मीठी गरमाहट के
फव्वारे फूट रहे,
धूप के गुलाबी रंग
पेड़ों की गीली
हरियाली पर छूट रहे,
चाँद कट पतंग-सा
दूर उस झुरमुट के
पीछे गिरता जाता...
किलकारी भर-भर खग
दौड़-दौड़ अम्बर में
किरण-डोर लूट रहे :

मैला तम चीर-फाड़
स्वर्ण-ज्योति मचल रही,
डाह-भरी, रजनी के

आभूषण कुचल रही,
फेंक रही इधर-उधर
लत्ते-सा अन्धकार।

['तीसरा सप्तक' से]

ओस-न्हायी रात

ओस-न्हायी रात
गीली सकुचती आशंक
अपने अंग पर शशि-ज्योति की सन्दिग्ध चादर डाल,
देखो
आ रही है व्योम गंगा से निकल
इस ओर
झुरमुट से सँवरने को···दबे पाँवों
कि उस को यों
अव्यवस्थित ही
कहीं आँखें न मग में घेर लें
लोलुप सितारों की।
प्रथम बरसात का निथरा खुला आकाश
पावस के पवन में डगमगाता
टहनियों का संयमित वीरान,
गूँजती सहसा किसी बेनींद पक्षी की कुहुक
इस सनसनी को बेधती निर्बाध,
दूर तिरते छिन्न बादल···

४३

स्वप्न के ज्यों मिट रहे आकार
सहसा चेतना में अध-मिटे ही थम गये हों :

कामना,
कुछ व्यथा,
भावों की सुनहली उमस,
चंचल कल्पना,
यह रात और एकान्त···

छन्द की निश्चित गठन-से जब सभी
सामान जुट आये
फिर भला उस याद ही ने क्या बिगाड़ा था
···कि वो न आती ?

['चक्रव्यूह से']

नामवर सिंह [ज० १९२७]

एक चित्र

फागुनी शाम,
अंगूरी उजास,
बतास में जंगली गन्ध का डूबना।
ऐंठती पीर में
दूर, बराह से
जंगलों के सुनसान का कूँथना।
बेघर बेपहचान
दो राहियों का
नतशीश न देखना-पूछना।
शाल की पंक्तियों वाली
निचाट-सी राह में
घूमना-घूमना-घूमना।

हरित फव्वारों सरीखे धान

हरित फव्वारों सरीखे धान,
हाशिए-सी विन्ध्य-मालाएँ,
नम्र कन्धों पर झुकीं तुम प्राण,
सप्तपर्णी केश फैलाये,
जोत का जल पोंछती-सी छाँह
धूप में रह-रह उभर आये।
स्वप्न के चिथड़े नयन-तल, आह!
इस तरह क्या पोंछते जायें?

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

[ज० १९२७]

मेघ आये

मेघ आये बड़े बन-ठन के सँवर के ।

आगे-आगे नाचती-गाती बयार चली,
दरवाज़े-खिड़कियाँ खुलने लगीं गली-गली,

पाहुन ज्यों आये हों गाँव में शहर के ।
मेघ आये बड़े बन-ठन के सँवर के ।

पेड़ झुक झाँकने लगे गरदन उचकाये,
आँधी चली, धूल भागी घाँघरा उठाये,

बाँकी चितवन उठा नदी ठिठकी, घूँघट सरके ।
मेघ आये बड़े बन-ठन के सँवर के ।

बूढ़े पीपल ने आगे बढ़ कर जुहार की,
'बरस बाद सुधि लीन्हीं'—
बोली अकुलायी लता ओट हो किंवार की,

हरषाया ताल लाया पानी परात भर के ।
मेघ आये बड़े बन-ठन के सँवर के ।

क्षितिज-अटारी गहरायी दामिनि दमकी,
'क्षमा करो गाँठ खुल गयी अब भरम की',

बाँध टूटा झर-झर मिलन के अश्रु ढरके ।
मेघ आये बड़े बन-ठन के सँवर के ।

['कल्पना' से]

सावन का गीत

नीम की निबौली पक्की, सावन की ऋतु आयी रे ।
सर-सर-सर-सर बहत बयरिया
उड़ि-उड़ि जात चुनरिया रे;
खुलि-खुलि जात किवँरिया ओठँगी
घिरि-घिरि आत बदरिया रे,
भुइयाँ लोटि-लोटि पुरवाई बड़ी-बड़ी बुँदिया लायी रे ।
नीम की निबौली पक्की, सावन की ऋतु आयी रे ।
दादुर मोर पपीहा बोले
बोले आँचल धानी रे, .

खन-खन-खन-खन चुरियाँ बोलें
रिमझिम-रिमझिम पानी रे,
डाल-डाल पर पात-पात पर कोइलिया बौरायी रे।
नीम की निबौली पक्की, सावन की ऋतु आयी रे।

दिन-दिन नदिया बाढ़न लागी
छिन-छिन आस बिलानी रे,
राह-डगर सब पानी-पानी
नैया चलत उतानी रे,
बेदरदी परदेस बसे हैं हूक करेजवा छायी रे।
नीम की निबौली पक्की, सावन की ऋतु आयी रे।

['काठ की घंटियाँ' से]

जाड़े की सुबह

ताल के किनारे बगिया में
सुबह की धूप भीगे बच्चों-सी
निस्तेज आँखों से बीमार हँसी हँसती
काँपती, थरथराती,
ठंडे सितारों के सिंघाड़े खा रही है।
रात का अन्धकार इधर-उधर
चरती बकरियों में सिमट कर चमक रहा है।
कोहरा जल के ऊपर उठ कर टँग गया है।
सफ़ेद-नीली पत्तों के बीच
सुबह का प्रकाश बर्फ़ की सिल्लियों-सा जम गया है।

अगहनी मुरैठा बाँधे शिशिर का चरवाहा
ठाकुरद्वारे की कच्ची दीवार से
पीठ टिकाये बैठा
धूप सेंक रहा है ।

अभी घंटियाँ बजेंगी
कपूर की सफ़ेद लौ
सीली-अँधेरी कोठरी में
भगवान के सामने डोलेगी ।
झँझरियों के पीछे से आ कर
कोई पांडु मुख हाथ जोड़ आरती लेगा :
सुबह पिघलेगी ।

['राष्ट्रवाणी' से]

यहीं कहीं एक कच्ची सड़क थी

सुनो ! सुनो ।
यहीं कहीं एक कच्ची सड़क थी
जो मेरे गाँव को जाती थी ।

नीम की निबौलियाँ उछालती,
आम के टिकोरे झोरती,
महुआ इमली और जामुन बीनती,
जो तेरी इस पक्की सड़क पर घरघराती

मोटरों और ट्रकों को अंगूठा दिखाती थी;
उलझे धूल-भरे केश खोले
तेज धारा वाली सरपत की कतारों के बीच
घूमती थी, कतराती थी, खिलखिलाती थी।
सुबह का टूली दुपट्टा,
मटमैली दोपहर की गर्दखोर झुलनी,
शाम का सुरमई लहँगा
सितारों की हबेल, चाँद की हँसली पहने,
तेरी इस पक्की सड़क पर आने-जाने वाली
जार्जट की साड़ियों में लिपटी
प्लास्टिक की झबरी, लिपस्टिक-पाउडर लगी
पुतलियों को देख कर,
तालियाँ बजाती थी, मुस्कराती थीं।

सुनो ! सुनो !
यही कहीं एक कच्ची सड़क थी
जो मेरे गाँव को जाती थी।

सावन के बादलों की बकरियों के पीछे
बिजली की लकुटिया हिलाती भागती नज़र आती थी,
शीत की ओस-जड़ी हरीतिमा में
काँसे की चूड़ियाँ खनकाती
इधर उधर मेदुर दूब छीलती मिल जाती थी,
गरमी की बहकी पुरवाई में
कटी हुई फसलों की सुनहरी गाँठ
शीश पर उछालती, हुमचती आती जाती थी।
फैले कछार में

४८

बदलती लीकों के रबाब बजाती थी,
कुइयों जलपाखियों के सफ़ेद फूलों से
अल्हड़ मुक्त श्याम तन सजाये
ऋतुओं के डोलते बनजारों को बुलाती थी,
रास रचाती थी,
छिछले गढ़ों में, बरसाती नालों में
फाँड कसे, बेसुध यौवन के कमल-फूल चूमने
धँसती चली जाती थी।
टीलों पर चढ़ती थी,
नदियों में उतरती थी,
झाऊ की पट्टियों में खो जाती थी,
खेतों को काटती थी
पुरवे बाँटती थी
हारी-थकी अमराई में सो जाती थी।

सुनो! सुनो!
यहीं कहीं एक कच्ची सड़क थी
जो मेरे गाँव को जाती थी।

आधी-आधी रात बैलों के गले में बँधी घंटियों की
छागल बजाती थी,
भोर होते-होते
यौवन की किसी प्यासी सूनी वन-खंडी में
जलते टेसुओं की छाँह तले सुर्ख हो जाती थी,
गुदना गुदाये स्वस्थ मांसल पिंडलियाँ थिरकाती
ढोल, मादल, बाँसुरी पर नाचती थी,
पलक झुका गीले केश फैलाये

रामायण की कथा बाँचती थी,
ठाकुरद्वारे में कीर्तन करती थी,
गैरिक कंचुकी पहनती थी,
आरती-सी दिपती थी
चन्दन-सी जुड़ाती थी
प्रसाद-सी मिलती थी
चरणामृत-सी व्याकुल होठों से लग कर
रग-रग में व्याप जाती थी।

सुनो ! सुनो !
यही कहीं एक कच्ची सड़क थी
जो मेरे गाँव को जाती थी।

रमा सिंह

[ज० १९२७]

इन्द्रधनुष

नभ में उग आयी लो !
रंग-भरी रेखा एक टेढ़ी-सी
जिस को हम इन्द्र-धनुष कहते हैं ।

उमड़-घुमड़ कर अभी
बादल ये बरसे हैं,
महक उठी धरती
और फूल-पत्ती-पौधे
सब सरसे हैं ।

जीवन में इसी तरह
दु:ख की घटाओं का अँधेरा है,
इस के भी पीछे शायद
रंगों का घेरा है ।

एक इसी आशा के तर्क पर
दु:ख और दाह हम सहते हैं,
जीवन में इसी आकर्षण को
इन्द्र-धनुष कहते हैं ।

['समुद्र-फेन' से]

रामविलास शर्मा

[ज० १९२७]

सावन-संझा

सावन बरसा संझा फूली ।

उमराई में झुले हिंडोले चढ़
दुलहिन ने पेंग बढ़ा कर
गीली मेंहदी रचे करों से,
सुरमइया बदली को छू ली ।

सावन बरसा संझा फूली ।

इन्द्र-धनुष पर हवा धुनैया
मटमैली कपास है धुनती,
नील गगन से रह-रह झीनी
बादामी फुहार-सी छनती;

उधर मेंड़ से उठ कजली स्वर
भटक गये अम्बर में सत्वर;
घने वनों में कोई पहाड़िन
हो जैसे पगडंडी भूली ।

सावन बरसा संझा फूली ।

लगा रही चक्कर कौड़ी के
झूमर-सी बगलों की पाँतें,
सीताफल की टहनी झुक-झुक
सुनती है लहरों की बातें;

थिरक मयूर बताता जौहर,
ताल दे रहा है गुलमोहर,
आज क्षितिज के द्वारे सुआ-
पंखी बन्दनवारें झूलीं।

सावन बरसा संझा फूली।

['कविताएँ ५७' से]

निमाड़ की एक सुबह

ढाल पर अटकी हुई-सी झोंपड़ी में मुर्ग बोला :
रश्मियों ने क्षितिज प्याले में नखूनी रंग घोला।

सूर्य की पहिली किरन ही चुभ गयी तन में सुई-सी,
बिंध गयी अंजन बबूलों में हवा गाफिल हुई-सी।

उँगलियों में थाम घूँघट, पहन घुटनों तक घघरिया,
दीर्घ डग भर भील-रमणी चल पड़ी ले सर गगरिया।

सूद औ दर सूद-सी बढ़ती गयी लम्बी डगर पर
आदिवासी दशमलव-सा ही दिखाई दे रहा भर ।

सज सँवर काँसी कड़ों से धूप पगडंडी उतरती
हो रही कुरबान हल की नोक पर सौ बार धरती ।

['नयी दिशा' से]

रघुवीर सहाय [ज० १९२९]

धूप

देख रहा हूँ
लम्बी खिड़की पर रक्खे पौधे
धूप की ओर बाहर झुके जा रहे हैं
हर साल की तरह गौरैया
अब की भी कार्निस पर ला-ला के धरने लगी है तिनके
हालाँ कि यह वह गौरैया नहीं
यह वह मकान भी नहीं
ये वे गमले भी नहीं, यह वह खिड़की भी नहीं
कितनी सही है मेरी पहचान इस धूप की ।

कितने सही हैं ये गुलाब
कुछ कसे हुए और कुछ झरने-झरने को
और हलकी-सी हवा में और भी, जोखम से
निखर गया है उनका रूप जो झरने को हैं ।

और वे पौधे बाहर को झुके जा रहे हैं
जैसे उधर से धूप इन्हें खींचे लिये ले रही है
और बरामदे में धूप होना मालूम होता है
जैसे ये पौधे बरामदे में धूप-सा कुछ ले आये हों ।

और तिनका लेने फुर्र से उड़ जाती है चिड़िया
हवा का एक डोलना है : जिसमें अचानक
कसे हुए गुलाब की गमक है और गर्मियाँ आ रही हैं—
हालाँ कि अभी बहुत दिन हैं—
कितनी सही है मेरी पहचान इस धूप की ।

और इस गौरैया के घोंसले की कई कहानियाँ हैं
पिछले साल की अलग और उसके पिछले साल की अलग
एक सुगन्ध है
बल्कि सुगन्ध नहीं एक धूप है
बल्कि धूप नहीं एक स्मृति है
बल्कि ऊष्मा है, बल्कि ऊष्मा नहीं
सिर्फ एक पहचान है
हल्की-सी हवा है और एक बहुत बड़ा आसमान है
और वह नीला है और उसमें धुआँ नहीं है
न किसी तरह का बादल है
और एक हल्की-सी हवा है और रोशनी है
और यह धूप है, जिसे मैंने पहचान लिया है
और इस धूप से भरा हुआ बाहर एक बहुत
बड़ा नीला आसमान है
और इस बरामदे में धूप और हल्की-सी हवा और एक वसन्त ।

['सीढ़ियों पर धूप में' से]

४९

पानी के संस्मरण

कौंध। दूर घोर वन में मूसलाधार वृष्टि
दुपहर : घना ताल : ऊपर झुकी आम की डाल
बयार : खिड़की पर खड़े, आ गयी फुहार
रात : उजली रेती की पार; सहसा दिखी
शान्त नदी गहरी
मन में पानी के अनेक संस्मरण हैं।

['सीढ़ियों पर धूप में' से]

सूर्यप्रताप सिंह [१९३१-१९५७]

फागुन की दोपहरी

फागुन की वयःसन्धि,
उतर गये पातों के पीले परदे,
नंगी शीशम डालों पर घिर आया कुछ खोयापन—
अलसायी खेतों में दोपहरी,
रेतीली वायु उड़ी,
दरवाज़े का पल्ला धड़क उठा
इस सूनी घड़ियों के–
मन की
बन कर धड़कन।

['आस्था' से]

साँझ हुई

डूब गये कहीं किसी वंशी के स्वर,
साँझ हुई।

झुँझकुर में दिन भर ऊँघी पीली धूप,
अलसायी दोपहरी, अलसायी छाँव;
संझा का सोन-दिया, सोनराया गाँव,
पियराये ताल-तलैया, खण्डहर कूप—
दिन भर बज खेतों में चुप हैं अरहर,
साँझ हुई।

महुआ-डूबे बन की गलियाँ सुनसान,
अभी झूल कर सोयी साजा की शाख;
निंदियाये फूलों की सकुचायी आँख;
कहीं उठी लहर, कहीं टूट गये गान—
भीगी हैं दो आँखें, भीगा आँचर,
साँझ हुई।

जूड़े में फिर ऊगे संझा के फूल,
हाथों में फिर थिरकन, ओठों पर गीत,
फिर आना ओ पाहुन, फिर आना मीत,
सरिता के सूने तट संझा के फूल,
रतनारी चाँद उगा, बजते मन्दिर—
साँझ हुई।

['कविताएँ ५७' से]

विपिन कुमार अग्रवाल

[ज० १९३१]

जब हवा चली

हरी घास ने सिर उठा देखा
एक पेड़ बलिष्ठ भुजाओं में
अपना सिर उठाये खड़ा था
उसे हँसी आ गई !
पेड़ ने सुना तो क्रोध में आ
अपनी भुजाओं में सिर को घुमा
फेंक देने को आतुर हो गया :
हरी घास हँसी से
दोहरी हो गई ।

['धुएँ की लकीरें' से]

केदारनाथ सिंह

[ज० १९३२]

दुपहरिया

झरने लगे नीम के पत्ते, बढ़ने लगी उदासी मन की,
उड़ने लगी बुझे खेतों से
झुर-झुर सरसों की रंगीनी,
धूसर धूप हुई, मन पर ज्यों
सुधियों की चादर अनबीनी,
दिन के इस सुनसान पहर में रुक-सी गयी प्रगति जीवन की।
साँस रोक कर खड़े हो गये
लुटे-लुटे से शीशम उन्मन,
चिलबिल की नंगी बाहों में
भरने लगा एक खोयापन,
बड़ी हो गयी कटु कानों को 'चुर-मुर' ध्वनि बाँसों के बन की।
थक कर ठहर गयी दुपहरिया,
रुक कर सहम गयी चौवाई,
आँखों के इस वीराने में-
और चमकने लगी रुखाई,
प्रान, आ गये दर्दीले दिन, बीत गयीं रातें ठिठुरन की।

['तीसरा सप्तक' से]

कुहरा उठा

कुहरा उठा,
साये में लगता पथ दुहरा उठा,
हवा को लगा गीतों के ताले
सहमी पाँखों ने सुर तोड़ दिया,
टूटती बलाका की पाँतों में
मैंने भी अन्तिम क्षण जोड़ दिया,
उठे पेड़, घर, दरवाज़े, कुआँ
खुलती भूलों का रंग गहरा उठा।

शाखों पर जमे धूप के फाहे,
गिरते पत्तों से पल ऊब गये,
हाँक दी खुलेपन ने फिर मुझ को
डहरों के डाक कहीं डूब गये,
नम साँसों ने छू दी दुखती रग
साँझ का सिराया मन हहरा उठा,
पकते धानों से महकी मिट्टी
फसलों के घर पहली थाप पड़ी,
शरद के उदास काँपते जल पर
हेमन्ती रातों की भाप पड़ी,
सूइयाँ समय की सब ठार हुईं
छिन, घड़ियों, घंटों का पहरा उठा।

['तीसरा सप्तक' से]

जल-हँसी

सुबह-सुबह हँस दी वह
सिहरते जलाशय के लहरदार पानी में,
बालू पर,
सूखी जल-घासों के इर्द-गिर्द
हल्दी के पानी-सी हँसी वह फैल गयी,
दूर-दूर लहरों में,
लहरों की भीतरी गुफाओं-कन्दराओं में,
गूँजती चली गयी।

यात्री मैं—
देखता रहा केवल पानी में झुकी हुई
धूप की टहनियों को,
गहरे-गहरे धँसती
पंक्तिबद्ध चिड़ियों को,
बिना लक्ष्य फिंकी हुई डूबती कंकड़ियों को।

और तभी
पूरन की धुन्ध-भरी चुप्पी से
एक धुन उठी,
और ऊँघते जलाशय को रौंदती चली गयी
बेंत के निकुंजों में।

४६

यात्री ने सुना,
और उस बूढ़े बरगद के भीतर से बोल उठा :
सुबह के स्वच्छ नील पानी में धुली हुई—
उच्छल हँसी ओ, सुनो,
नाम नहीं पूछूँगा;
मैं तो हूँ संवेदन-दरपन जलाशय का,
खंड खंड हो कर भी
जीवन के बिलकुल अन्तिम धुँधले छोर तक,
समय के आर-पार
गूँजती अनामा यह हँसी पकड़ रक्खूँगा !

['कवि' से]

'मुक्त' (रामबहादुर सिंह) [ज० १९३२]

मेघों के हाथी

लो, अम्बर के इस मटियाये मैदान बीच
हैं मेघों के हाथी बिगड़े-मस्ताये वे
हैं पूँछ-सूँड़ फटकार रहे, चिग्घाड़ रहे—
पछुवा का धीर महावत जिन को रहा दबा
धधकार मार, बिजली के अंकुश भँवा-भँजा ।

['यायावर' से]

अलस्सवेरे

शुकिया डूबी—झुर-झुर-झुर पुरवैया डोली,
मुर्गा कूका—चुह-चुह-चुह चुहचुइया बोली,
चला पड़ोसिन के घर जाँता घर्रर-घर्रर
और उसी से मिला उठा कुछ गाने का स्वर ।
चारा खाते ढोरों की घंटियाँ टुनुन् टुन्
अलस्सवेरे जीवन का खटराग नधा-पुन् ।

['यायावर' से]

अजितकुमार [ज० १९३३]

चैत का गीत

चैत में कटी है जौ।

मेहनत ने किया काम
बिकी फ़सल, लगे दाम
जुटे ख़रीदार, साहूकार
मिले रुपये सौ।

नन्हें जेठुअई धान
खड़े हुए सीना तान
परती खेत अबके असाढ़ में
जुतेंगे औ'।

घटती है, बढ़ती है,
मुड़ती है, चढ़ती है,
दीवट, ओसारे में की
जागती-मचलती लौ।

फूस का बड़ा छप्पर
ख़ाली है, सोयेंगे सब बाहर;
बछिया से तनिक परे
सहन में बँधी है गौ।

मुखिया, सरपंच, लोग !
जुटा नहर प'र जोग :
चंग और डफ बाजे
घुँघरू में आई रौ ।

नक़लें औ' रागरंग
देख, सभी हुए दंग;
आयी जब सुध, जाना—
पूरब में फटती पौ ।

['अंकित होने दो' से]

नीम की टहनी

नीम की टहनी
फली-फूली हुई देखी
लिखीं बातें तुम्हें वे जो कि थीं कहनी ।

बात मैं उस व्यथा की कह रहा था
जो पड़ी मुझ को तुम बिना सहनी ।
अस्तव्यस्त विचार मेरे कर न पाई थी
अजी, फूलों-लदी वह
नीम की टहनी ।

किन्तु देखे पुष्प झरते हुए
अनगिन,
रोक पाया मैं नहीं मन को,
अरे, इस भाव के बिन-
प्यार का संसार कह लो,
प्रीति का आगार कह लो,
कहो जो कुछ:
आह, वह सब बहुत अस्थिर
लौह की दीवार जैसी दृढ़ बताती थीं जिसे तुम—
जायगी गिर,
वही मेरे औ' तुम्हारे प्यार की प्राचीर
कुछ दिन बाद है ढहनी।
और तब मैं लिख गया :
सच है—हमारी औ' तुम्हारी प्रीति
ज़्यादा दिन नहीं रहनी।
अस्तव्यस्त विचार मेरे कर गयी सब
जब झकोरे में हिली
फूलों-खिली वह
नीम की टहनी।
भई, मैं क्या बताऊँ,
चाहता था भाव मन के
दूसरे ही कुछ जताऊँ,
किन्तु फूलों से लदी, व्याकुल बनाती,
झूमती, झकझोरती, झरती हुई वह
नीम की टहनी !
उसे मैं क्या करूँ !

['अंकित होने दो' से]

मालती परुलकर [ज० १९३४]

राह

राह यह
कभी बहकी-बहकी, कभी सहमी-सहमी
पहाड़ियों की छाँह में ले कर झपकी
मनमानी गुजरती है;
वृक्ष-तनों को छू-छू कर
मैदानों में सन्ध हो कर
हरियाली में धीमी धीमी टहलती है
उछलते झरनों में भींगने,
दुर्गम कगारों पर झूमने वाले
बन फूलों की आँखें मींचने
नव-वधू के अधरों सी सकुचाती है :
जाने इसे कौन-सा स्वर, कौन-सी धुन भाती है ?

पत्ती का, फूलों का
नदी के कूलों का
गीली मिट्टी का
ढेरों में पड़ी
अनगन्धा-सी लगने वाली
नुकीली गिट्टी का
ढाल, छत्तों से टपकते बरसाती पानी का

खेत खेत में फैले गेहूँ, ज्वार, धानी का
गन्ध, गम, गीत बटोर लाती है
कोमल धूप से सिंगार कर
पोखर-दर्पन में झाँक-झाँक कर
अपने रूप में किसी का बिम्ब पाती है।
कभी कृष्ण पक्ष के अंतिम छोर में
या शुक्ल पक्ष की भीगी भोर में
क्षितिज तक पहुँच कर चंदा को चूमती है,
अकारण ही पवन पै, गगन पै रूठती है—
खेल-खेल में राही को इतनी अजानी
मिश्री-मिश्रित मसोस देती है
कि रात-बिरात भटकने का,
सपनों में बरबस अटकने का
मोर, तोष,
ऐश्वर्य के तोल पर तुल नहीं सकता,
सूली की पाँत पर टूट नहीं सकता,
जो कुछ पाता है वह
उसे डाका डाल कर कोई लूट नहीं सकता—
मंजिल पा कर भी, ऐसी रात का राही रुक नहीं सकता।

कीर्ति चौधरी [ज० १९३५]

बरसते हैं मेघ झर-झर

भीगती है धरा
उड़ती गन्ध
चाहता मन
छोड़ दूँ निर्बन्ध तन को
यहीं भीगे,
भीग जाये
देह का हर रन्ध्र।
रन्ध्रों में समाती स्निग्ध
रस की धार—
प्राणों में अहर्निश जल रही ज्वाला
बुझाये;
भीग जाये,
भीगता रह जाय सब उत्ताप।

बरसते हैं मेघ झर-झर।
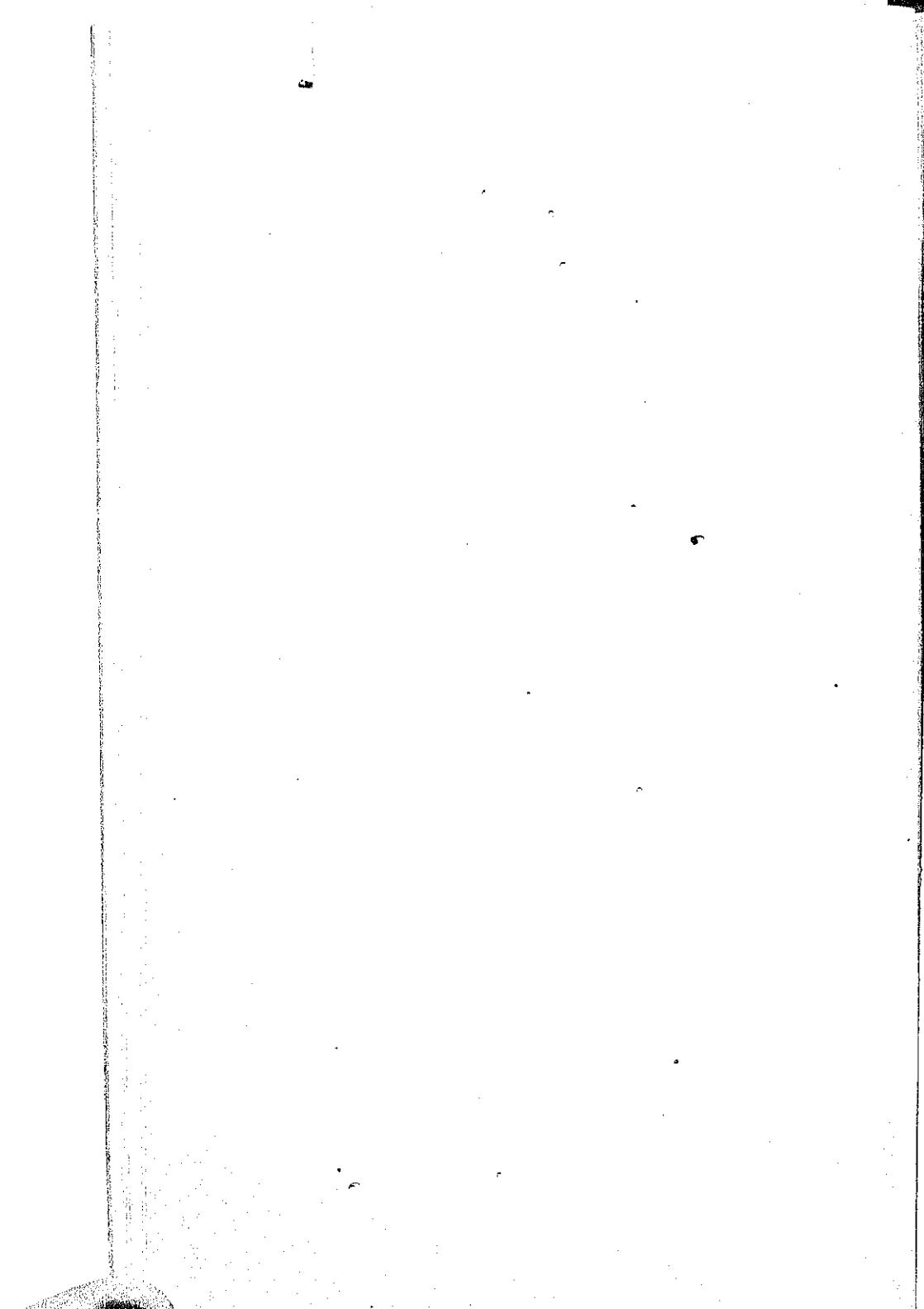
अलक माथे पर
बिछलती बूँद मेरे।
मैं नयन को मूँद
बाहों में अमिय रस-धार घेरे।
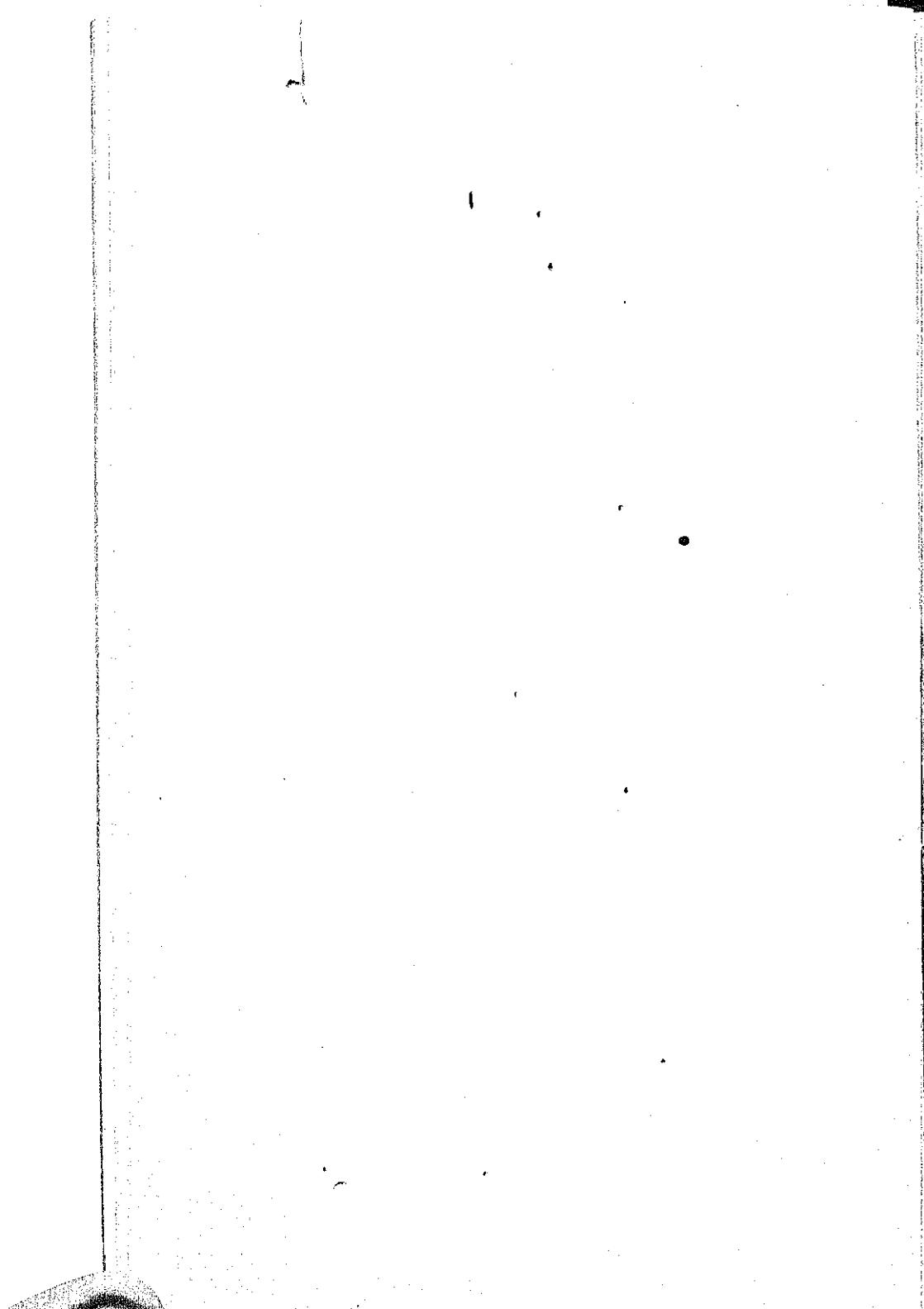
आह ! हिम-शीतल सुहानी शान्ति
बिखरी है चतुर्दिक।
एक जो अभिशप्त—वह उत्तप्त अन्तर।
दहे ही जाता निरन्तर।
बरसते हैं मेघ झर-झर।

['तीसरा सप्तक' से]

रूप-दर्शिका

विद्यानिवास मिश्र

प्रकृति वर्णन : काव्य और परम्परा

काव्य वस्तुतः मनुष्य जातिके रसग्राही मनमें पड़ने वाले विश्वके प्रतिबिम्बोंका एक चुना हुआ और ढङ्गसे सजाया हुआ गुलदस्ता है। विश्वके प्रपंचमें वस्तुतः तीन सत्ताएँ हैं—मनुष्य द्वारा निर्मित समाज, संस्कृति एवं सभ्यताके संस्थान, मनुष्यका अन्तःकरण और शेष वह समस्त चर-अचर जगत्, जिसके निर्माणमें मनुष्यका योगदान न होते हुए भी उसके साथ मनुष्यका जन्मसे ही किसी-न-किसी प्रकारका रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इसी तीसरी सत्ताको हम प्रकृति कहते हैं। प्रकृतिको कुछ लोगोंने संस्कृतिका पूरक और कुछने विरोधी तत्त्व माना है। प्रकृतिके प्रति प्रायः संस्कृत जनकी तीन दृष्टियाँ होती हैं—या तो वह प्रकृतिके सहज आह्लादन, उन्मादन एवं उद्दाम अनगढ़ रूपको अपने जीवनकी सहज वृत्तियोंकी प्रतिकृतिके रूपमें पाना चाहता है, या वह प्रकृतिको मनुष्यकी विजयके लिए एक लक्ष्य-मात्र मानकर उसके रहस्योंको हस्तगत करके उसके ऊपर शासन करना चाहता है, या वह प्रकृतिकी ओरसे उदासीनसे रहकर अपने तथाकथित संस्कृत जीवनको अपने और अपने समाजमें रखता है। इस तरह आकर्षण, विकर्षण और उदासीनतासे प्रेरित ये तीन दृष्टियाँ होती हैं। उदासीन दृष्टि प्रायः ऐसे ही खंडमनाओंकी होती है, जिनमें संसारके तमाम व्यापारोंकी कोई गूँज नहीं उठ पाती और जिनका बौद्धिक या भावनात्मक स्तर बहुत छिछला होता है। विकर्षणकी दृष्टि विश्लेषणकर्त्ताकी दृष्टि है, वही वैज्ञानिककी दृष्टि है। आकर्षणकी दृष्टि संश्लेषकी दृष्टि है; वह काव्य या कलाकारकी दृष्टि है।

प्रकृतिके प्रति प्राचीन कालसे ही कवि आकृष्ट हुआ है। प्रकृतिके अनगढ़ सत्यने बराबर कविकी दृष्टिका विस्तार किया है। यह ज़रूर है कि प्रत्येक कवि प्रकृतिको उतना ग्रहण करनेमें एक-सा समर्थ नहीं होता और न वह प्रकृतिका एक-सा उपयोग ही करता है, पर परोक्ष-अपरोक्ष रूपसे काव्यमें प्रकृतिका उपादान होता ज़रूर आया है। औद्योगिक क्रान्तिके बाद अट्ठारहवीं शताब्दीके अन्तमें यह चिन्ता कुछ प्रकृति-प्रेमियोंको ज़रूर हुई कि अब कदाचित् प्रकृतिसे अनुराग नहीं रह पायेगा, कल-कारख़ानों, पुरज़ों और उन्हींसे बनी चीज़ोंमें घिरा रहकर आदमी एक तरहसे अपनी ही बनायी हुई जालीमें घिरे मकड़ेकी तरह अपनेमें ही लीन हो जायेगा। इस आशंकाने ही प्रकृतिके प्रति कवियोंको नये ढंगसे सोचनेकी प्रेरणा दी। कुछ कवियोंने इस नयी औद्योगिक चकाचौंध और मनुष्यके कृतित्वके प्रभा-मण्डलसे त्राण पानेके लिए प्रकृतिको शरणस्थलके रूपमें देखा; दूसरे कवियोंने कुछ और आगे बढ़कर प्रकृतिको सहज एवं शुद्ध जीवनके शिक्षकके रूपमें देखा। इनके विपरीत कुछने उसे दुर्भेद्य रहस्यका पर्दा मानकर उसके पार झाँकनेके लिए एक चुनौती मानी कि हम उसे चीर दें। कवियोंका एक चौथा वर्ग भी था, जो प्रकृतिके सत्त्व को—चाहे वह निश्चल शान्तिमय हो, चाहे उद्दाम आवेगमय—अपने जीवनमें उतारना चाहता था। इन सबसे अलग एक अन्य वर्ग भी सामने आया, जो मनुष्यकी नयी सम्भावनाओंमें प्रकृतिको केवल साधन-सामग्रीके रूपमें देखता था, उसे प्रकृतिसे कोई राग नहीं, विराग नहीं, भय नहीं, तादात्म्य भी नहीं, वह प्रकृति-मात्रको उपादान सामग्री मानने लगा।

लेकिन इन सबने प्रकृतिके प्रति जो भी भाव रखा, वह द्वैत की दृष्टिसे प्रभावित था। भारतीय काव्य-परम्परापर अद्वैत दृष्टिका गहरा प्रभाव रहा है और दृश्य-अदृश्य दोनों प्रकारकी सत्ताओंको

बिम्बानुबिम्ब भाव मानने पर ही विशेष बल दिया जाता रहा है। मनुष्यके अन्तःकरणके व्यापारोंका प्रतिक्षेप ब्रह्माण्डके व्यापारोंमें, और ब्रह्माण्डमें चलनेवाले व्यापारोंका प्रतिक्षेप मनुष्यके अन्तःकरण पर पड़ता रहता है; यही सिद्धान्त भारतीय संस्कृतिकी समस्त अभिव्यंजनाओंमें प्रतिष्ठित है। इस मान्यताके अनुसार प्रकृति मनुष्यके जीवनमें कोई विलक्षण वस्तु नहीं है। मनुष्यके वे सभी संस्कार, जो सहजात हैं, प्रकृतिके विविध उपकरणोंमें अनुबिम्बित हैं। भारतीय परम्पराने इसीलिए देवताओंकी कल्पना भी प्रकृतिके ही आकारमें की है। इन देवताओंको प्रकृतिका रूप देनेके कारण ही प्राचीन वैदिक संस्कृति बहुदेववादी न रहकर सर्वदेववादी रूपमें परिणत हुई। उसने प्रत्येक स्थलमें, प्रत्येक वस्तुमें, प्रत्येक व्यापारमें और प्रत्येक समयमें किसी-न-किसी देवताकी प्रतिष्ठापना की। देश-कालके किसी भी अणु-परमाणुको उसने अदेवमय नहीं रहने दिया। देवमयताके इस विस्तारने ही समस्त देवताओंमें एक सूत्रताका विचार पनपाया और सर्वेश्वरवाद की प्रतिष्ठा करायी। प्रकृति इस प्रकार ब्रह्मकी नाना अभिव्यक्तियों मेंसे एक अभिव्यक्ति हुई। भारतीय कलाने प्रारम्भसे ही प्रकृतिके इस प्रतिबिम्ब भावको मनुष्य जीवनकी उच्चतम अभिव्यक्तिके लिए सबसे प्रकृष्ट उपाय माना; और उसकी शिल्प-विधिमें कल्पवल्ली, कमलपट्टिका, फूलों-फलोंसे अवनमित डाल, पशु-पक्षी अभिप्राय उपयोजित हुए। भारतीय साहित्यमें भी कवि-समयोंमें, कथावस्तु-की रचनामें, रसकी विभावनामें और मानवीय सौन्दर्यकी अभिव्यं-जनामें प्रकृतिका प्रयोग अत्यधिक मात्रामें हुआ।

इस प्रकार प्रकृतिके प्रति भारतीय और पश्चिमी दृष्टियोंमें मौलिक अन्तर यह नहीं है कि प्रकृति-प्रेम एकमें कम है और दूसरेमें ज़्यादा, बल्कि मौलिक अन्तर है प्रकृति और मनुष्यके बीच द्वैत या अद्वैत सम्बन्ध रखनेमें। यही कारण है कि पश्चिमी

कवियोंका प्रकृति-वर्णन बहुत पारदर्शी और ब्यौरेवार होता है, जब कि भारतीय कवियोंका वर्णन बराबर अन्तर्मुखी और सूक्ष्म होता है। वैसे इस नियमके अपवाद दोनों जगह मिलते हैं और आजके युगमें पूर्व और पश्चिमकी संस्कृतिमें आदान-प्रदान साहित्य के स्तरपर काफ़ी मात्रामें होने लगा है, तब यह प्रभाव और अधिक बढ़ गया है। वैसे इसकी शुरूआत रोमांटिक कवियोंसे ही पश्चिममें और उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम चरणके कवियोंसे यहाँ हो गयी थी। पहले हम भारतीय काव्य-परम्पराका ही सिंहावलोकन करेंगे।

प्राचीनतम भारतीय काव्य है ऋग्वेद। ऋग्वेदमें प्रकृतिके सुकुमार और घोर दोनों रूपोंके प्रति एक विस्मयाविष्ट दृष्टि है और देवताओंका जो सबसे प्रथम विभाजन है वह भी प्रकृतिमूलक है। आकाश, अन्तरिक्ष और पृथ्वी इन तीन स्थानोंमें तीन प्रकारके देववर्गोंकी स्थापना की गयी है। आकाशमें प्रायः जिन देवताओंकी स्थापना की गयी है, वे प्रकाश, नैतिक बल, गति, रक्षा, अमृत, स्फूर्ति, सौन्दर्य एवं सत्यके अधिष्ठाता देवता हैं। अन्तरिक्षके देवता-मण्डलमें प्रायः भौतिक पराक्रम, आवेग, क्षोभ, संघर्ष एवं पार्थिव जगत्को अभिभूत करनेवाले मनोभावोंके देवता हैं। पृथ्वीमें अधिष्ठान बनानेवाले देवताओंमें तृप्ति, क्षमा, मैत्री, सौमनस्य एवं आत्मीयताके आकार ग्रहण करनेवाले देवता हैं। इसीलिए कवि-कल्पनाकी सबसे ऊँची उड़ान आकाश-मण्डल की देवी उषाके वर्णनमें है, वीर-काव्यकी प्रेरणा अन्तरिक्षके देवताओंके सरदार इन्द्रके आवाहनमें है और घरका-सा वातावरण पृथ्वी, अग्नि या नदी-देवताके वर्णनमें है। आदित्योंकी उपासनाने ही वैदिक संस्कृतिको नैतिक और आध्यात्मिक गुणोंके प्रति विशेष ममतामयी बनाया और उनमें विष्णु देवता कालक्रम-में सबसे बड़े देवता हुए; पर वैदिक संस्कृतिका पार्थिव प्रेम कभी

कम नहीं हुआ। इसी कारण वैदिक ऋषि ऊँचीसे-ऊँची आध्यात्मिक उड़ान लेकर भी अँग्रेज़ी कवि शेलीका चंडूल न होकर वर्डस्वर्थका चंडूल बना रहना चाहता था। और इसीलिए उसने विष्णुका सम्बन्ध पार्थिव देवता लक्ष्मीसे, जो जलसे सम्भूत थीं, कराया। इसी प्रकार अन्तरिक्षके देवताओंमें सबसे अधिक भयङ्कर रुद्र, जब शिव रूपमें परिणत हुए तो उनका भी परिणय वैदिक संस्कृतिके अन्तिम चरणमें हैमवती उमासे करवाया। इस प्रकार प्रारम्भसे ही भारतीय काव्यमें आकाश और पृथ्वी, जड़ और चेतन, एवं दृश्य-अदृश्यके बीच सम्बन्ध स्थापित करनेकी चेष्टा की जाती रही है। यहाँ तक कि मनुष्य जीवनमें सामाजिक एवं पारिवारिक दोनों स्तरोंपर सन्तुलन एवं समरसता स्थापित करनेवाले विवाह-संस्थानकी भी प्रेरणा उन लोगोंने सूर्याके विवाहसे ली। अथर्ववेदके पृथ्वी सूक्तमें इसे इस प्रकार संकेतित किया गया है—

> "हे पृथ्वी! पूर्व कालमें तुम्हारी गन्ध कमलमें सन्निविष्ट हुई, जो देवताओंने सूर्याके विवाहमें भेंट दी। तुम उसी गन्धसे मुझे सुरभित करो,जिससे मुझसे कोई द्वेष न करे।"[1]

उपनिषदोंकी मधु-विद्या तो निश्चित रूपसे प्रकृतिसे रस-ग्रहण की चरम परिणति है। आरण्यकों एवं उपनिषदोंमें यद्यपि साक्षात् रूपसे प्रकृतिवर्णनके प्रसंग बहुत कम मिलेंगे, पर उनकी रचना-प्रक्रियापर अरण्यकी प्रकृति इस प्रकार छायी हुई है कि साक्षात् वर्णित न होते हुए भी उस प्रकृतिकी मुक्त एवं विश्वस्त अन्तरात्मा हर एक मन्त्रके कोनेसे झाँकती रहती है। उपनिषद्के प्रवक्ता

---

१. यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश यं संजभ्रुः सूर्यायाय विवाहे।
अमर्त्याः पृथिवी गन्धमग्ने तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन॥
अथर्व. १२।१।२४

ऋषियोंकी ऐहिक सम्पत्तिके प्रति गहरी उदासीनता, पर साथ ही मनुष्य-मात्र क्या, प्राणिमात्रके प्रति गहरी संवेदना, इन दोनोंके मूलमें वन्य प्रकृतिका दर्शन ही मुख्य कारण है। वनके प्रति इस आकर्षणने ही भारतीय काव्यमें तपकी आग धधकायी; निर्वैर, निर्मत्सर एवं निष्कारण स्नेहकी रसधार बहायी, और विवेकमय श्रद्धा एवं विश्वासके परिशोधित वातावरणकी रक्षा की । वनकी प्रकृतिमें सत्यके अव्याकृत रूपकी परछाईं उन्हें दिखी थी, इसीलिए उस वातावरणमें रहते हुए वे सत्यकी तलाश अनथक रूपसे निरन्तर कर सके। असुरोंकी नगर-प्रधान संस्कृतिके सम्पर्कमें आनेके बाद भी भारतीय ऋषियोंकी आरण्यक दृष्टि नहीं बदली। इसका मुख्य कारण यह था कि वे अरण्यमें रहते हुए भी घोर इन्द्रिय-निग्रहके मार्गपर नहीं चलते थे, बल्कि वहाँ भी गृहस्थाश्रमके आश्रमका निर्वाह करते थे। वहीं ब्रह्मचारियोंकी शिक्षाका संचालन होता था, और वहीं बैठकर समाजकी नीतिकी रचना भी होती थी। इसलिए उनका जीवन संसारकी कल्याण-भावनासे ओत-प्रोत होनेके कारण असामाजिक या लोकविलक्षण नहीं था। उनके जीवनमें श्रमकी प्रतिष्ठा थी। यह सही है कि वे आसक्तिके बन्धनोंसे बहुत कुछ मुक्त थे, पर वे वैरागी न थे। उनका राग बड़ा व्यापक था । प्रकृति-प्रेम उनके जीवनका अंश न होकर अंशी था। उनके जीवनके समस्त उपादान प्रकृतिके द्वारा दिये गये थे। ऋषि-पत्नियों और ऋषि-कुमारियोंके समस्त शृङ्गार वनके फूलों और पत्तोंसे थे। उनके उल्लासकी घड़ी प्रकृतिसे मिली हुई थी। कालिदासने शकुन्तलाके वर्णनमें उसी अरण्य-परम्पराका दिग्दर्शन कराया है :

> "शकुन्तला वृक्षोंको पिलाये बिना स्वयं जल नहीं पीती थी और अलंकारका शौक़ रखते हुए भी नये पल्लव तोड़नेकी बात नहीं सोच पाती थी। पेड़ोंमें पहले फूल

४८

> जब आते थे तो उसके लिए उत्सवका दिन होता था। वह इस प्रकार पेड़ोंकी बेटी बन गयी थी कि पतिके गृह जाते समय उसे उनसे अनुमति लेनेकी ज़रूरत जान पड़ती थी[1]।"

इसी प्रभावके कारण भारतीय अनुष्ठान-विधिमें प्रकृतिका और उसके उपादानोंका बहुत बड़ा महत्त्व है। कलश-स्थापनामें समस्त नदियोंके जल भरनेकी कल्पना, कलशके अन्दर सप्तधान्य रखनेकी कल्पना, कलशमें सर्वौषधि छोड़नेकी विधि, कलशके ऊपर पंचपल्लव रखना, कलशमें सप्तमृत्तिका छोड़ना और कलशको चारों ओरसे यवांकुरोंसे गोंठना, यह समस्त योजना प्रकृतिकी उस समग्र सत्ताको स्मरण करनेकी योजना है, जिसके हम ऋणी हैं। इसी प्रकार पूजा या हवनके उपादानोंमें जिन द्रव्योंका उपयोग होता है, वे भी प्रकृतिकी ही भेंट होते हैं। पुष्प, दूर्वा-कुर, ऋतु-फल, कदली-स्तम्भ, पान, सुपारी, नारियल, हलदी एवं समिधा--इन सभीकी व्यवस्थामें जिस विविधता और प्रतीक सार्थकतासे काम लिया गया है, वह प्रकृतिके जीवनसे तादात्म्य स्थापित किये बिना सम्भव नहीं है। हम इनके ब्यौरेमें न जाकर इतना ही इंगित करना चाहेंगे कि भारतीय अनुष्ठान-विधिमें जल, अक्षत एवं फूलका महत्त्व सबसे अधिक है। जलको सृष्टिका आदिभूत तत्त्व मानकर बराबर उसका उपयोग किया जाता है। फूलका उपयोग मनके आमोदको आकार देनेके लिए तथा देवता की सुरुचिको तृप्ति देनेके लिए किया जाता है। अक्षत, जो प्रकृति और मनुष्यके सहयोगका परिणाम है और जैसा उसके नामसे

---

१. पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥
—अभिज्ञानशाकुन्तल, चतुर्थ अंक

ही द्योतित है, वह धानका अविकल अक्षत सार है, वह मनुष्यके विवेकमय उत्सर्ग तथा उसकी उर्वर रचना-शक्तिका मूर्त रूप है। कुछ संस्कृति-मीमांसकोंका यह विचार है कि भारतीय अनुष्ठानमें फूलोंका महत्त्व कोल संस्कृतिका दान है और जलका महत्त्व द्रविड़ संस्कृतिका है, अक्षत वैदिक संस्कृतिका है। हम इस विश्लेषणकी मीमांसामें न जाकर इतना ही इस परिस्थिति विशेषके लिए संगत समझेंगे कि भारतीय जीवनमें प्रकृतिका एक सांस्कृतिक मूल्य है। इसी कारण संस्कृतिके कुछ तत्त्वोंके रूढ़िबद्ध हो जाने से प्रकृतिके साथ हमारा सम्बन्ध कुछ मानेमें रूढ़िबद्ध हो चला है और रूढ़िके बन्धनसे अपनेको मुक्त न कर सकनेवाले कवियोंमें उस रूढ़िबद्ध संस्कृति-प्रेमका परिचय अब भी मिल जाता है। यह सही है कि समाजके यान्त्रिक वातावरणमें संस्कृतिकी बहुत-सी मान्यताओंको अत्यन्त निर्मम एवं तथाकथित बौद्धिक दृष्टिने चीरकर फेंक देनेकी कोशिश की है; तब भी हममेंसे प्रत्येकके मनसे उस संस्कृतिकी जो सबसे महीन और सुरीली आवाज़, चाहे क्षणके लिए ही क्यों न हो, गूँज ही जाती है, उसमें हम उस संस्कृतिको प्रकृतिसे अलग नहीं रख सकते।

परम्पराकी इस संक्षिप्त पृष्ठभूमिके बाद हम काव्यमें प्रकृति-वर्णनके प्रस्तुत विषयपर आते हैं। लौकिक काव्यका प्रारम्भ बाल्मीकिके रामायणसे माना जाता है। रामायणका रचनाकार और उसका परिवेश स्पष्ट रूपसे ही अरण्यमय है। रामायणका कवि प्रकृतिके शान्त, निरुद्विग्न और निकामतृक्स्त रूपका चितेरा है। इसीलिए उसके वर्णनोंमें सबसे शक्तिशाली वर्णन शरत्के हैं या चन्द्रमाके हैं या हेमन्तके हैं या स्तिमित वनके हैं। शरत्के आकाशको सानपर चढ़ायी हुई तलवारकी तरह निखरा बतलाना[1], चन्द्रमाको आकाशके गोठमें विचरण करनेवाला मस्त साँड़

१. व्यग्रं नभः शस्त्रविधौतवर्णम्।

कहना[1] और कुहरेसे ढँके चन्द्रमाको उसाससे अँधराये दर्पणकी तरह कहना[2] कविकी स्थिर दृष्टिका परिचय देते हैं। कवि प्रकृतिके स्थिर सौन्दर्यमें इतना रसमग्न रहनेवाला था कि उसे इस स्थिरता में तनिक भी बाधा सहन नहीं होती थी। कदाचित् इसी कारण उससे रहा न गया, जब उसने देखा कि चकई-चकवेकी निर्भय रतिमें बाधक बनकर एक बहेलिया चकवेको बींध रहा है और उसकी वाणी आक्रोशसे भर उठी : "जाओ तुम्हें अनन्त काल तक हे वधिक, शान्ति नहीं मिलेगी[3]!"

कहीं-कहीं कविने जब जमकर वातावरणका वर्णन देना शुरू किया है तो लगता है कवि कथाको भूल गया। वाल्मीकिके वर्णनमें प्रकृतिके दो उपयोग हैं—एक तो बिम्ब-विधान की प्रेरणा के रूपमें और दूसरे शुद्ध वातावरणकी रचनाके रूपमें। उनके काव्यकी मुख्य देन दूसरे प्रकारके उपयोगमें ही है। एक तरहसे भारतीय काव्यमें प्रकृतिका वातावरण देनेकी परम्परा वाल्मीकिसे शुरू होती है। बिम्ब-विधानका इतिहास तो वाल्मीकि से निश्चित ही पुराना है। वाल्मीकिके वातावरण बहुत सजीव और विशद हैं। समासोक्ति या अप्रस्तुतप्रशंसाके उपयोगसे अनभिज्ञ न होते हुए भी उन्होंने यथासम्भव इस प्रकारके संश्लिष्ट योजनावाले अलंकारोंसे बचने की ही कोशिश की है। उनका वर्णन यथार्थके अधिकतर समीप होते हुए भी फ़ोटोग्राफ़ी-सा नहीं दीखता है। कदाचित् इसलिए कि वह वर्णन मात्र पृष्ठभूमिके लिए ही उपयोजित हुआ है। अनावश्यक रूपसे अप्रसंगवश प्रकृति-वर्णन करना कविका अभिप्राय नहीं है इसीलिए उन्होंने प्रकृतिके निर्मल चित्रसे धुली स्लेटका काम लिया है।

---

१. गोष्ठे ककुद्मानिव।

२. निश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते।

३. मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।

वाल्मीकिने विम्ब-विधानकी दृष्टिसे सौन्दर्यके जिन प्रतीकोंका उपयोग किया, वे प्रतीक उनके काव्यमें तो ताज़गी ज़रूर रखते हैं पर परवर्ती काव्यमें अतिप्रयोगसे वे क्रमशः अपनी अर्थवत्ता खो बैठे। वाल्मीकि-काव्यमें इन प्रतीकोंका बराबर दुहराया जाना इसलिए नहीं अखरता कि यह काव्य कथावाचनके लिए ही प्रस्तुत किया गया था। इसमें पुनरावृत्तिसे अर्थमें प्रभाववत्ता और स्पष्टता अधिक आती है।

वाल्मीकिके काव्यसे प्रभावित श्रीमद्भागवतमें प्रकृति-वर्णनकी एक नयी परम्पराका उत्कर्ष दिखलायी पड़ता है। प्रकृति-वर्णनको चित्त-वृत्तियोंके प्रति आकृष्ट देखनेकी कल्पना श्रीमद्भागवतकी नयी देन है। इस काव्यके दशम स्कन्धमें वर्षा और शरत्‌के वर्णनमें दर्शनशास्त्रसे उपमान लिये गये हैं। उदाहरणके लिए—

धनुर्वियति माहेन्द्रं निर्गुणं च गुणिन्यमात्
व्यक्ते गुणव्यतिकरेऽगुणवान्पुरुषो यथा।

[बिना गुण (डोरी) का इन्द्रधनुष गर्जनादि गुणोंसे युक्त आकाशमें इस प्रकारसे सुशोभित होने लगा जैसे गुणक्षोभसे होनेवाले प्रपञ्चमें निर्गुण पुरुष विराजता है।]

न रराजोडुपश्छन्नः स्वज्योत्स्नाराजितैर्घनैः
अहमत्या भासितया स्वभासा पुरुषो यथा।

[अपनी ही कान्तिसे शोभायमान बादलोंसे ढँका हुआ चन्द्रमा इस प्रकार शोभित नहीं होता, जैसे अपने ही आभाससे आभासित अहंकारसे आच्छन्न होकर पुरुष प्रकाशित नहीं होता।]

सर्वस्वं जलदा हित्वा विरेजुः शुभ्रवर्चसः
यथा त्यक्तैषणाः शान्ता मुनयो मुक्तकिल्विषाः।

[मेघगण अपना जलरूप सर्वस्व त्याग देनेपर शुभ्र कान्तिसे सुशोभित होने लगे, जिस प्रकार कि त्रिविध एषणाओंका त्याग कर देनेपर पापहीन और शान्तस्वभाव मुनिजन विराजते हैं।]

शनैः शनैर्जहुः पङ्कं स्थलान्यामं च वीरुधः
यथाहंममतां धीराः शरीरादिष्वनात्मसु ।

[पृथिवी कीचड़को और लताएँ अपनी कच्चाईको धीरे-धीरे इस प्रकार छोड़ने लगीं, जैसे धीर पुरुष शरीर आदि अनात्मपदार्थों में धीरे-धीरे ममता और अहन्ताको छोड़ देते हैं ।]

श्रीमद्भागवतके गीतोंमें श्रीकृष्णकी रूपमाधुरीका सम्मोहन प्रकृतिके विविध तत्त्वोंके ऊपर जहाँ दिखलाया गया है, वहाँ कविने अद्भुत कल्पनाशक्तिसे काम लिया है । नदियाँ वेणुका रव सुनकर आवर्तोंके द्वारा आवेग प्रकट करके फिर प्रेम-शिथिल हो जाती हैं और आलिङ्गनके लिए फैलायी हुई लहरोंकी बाहोंमें श्रीकृष्णके चरण गहनेकी कोशिश करती हैं—

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत-
मावर्त्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः ।
आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारे-
र्गृह्णन्ति पादकमलं कमलोपहाराः ।

यह वेणु-रव जो गतिशीलोंको निष्पन्द करनेवाला और निश्चल तरुओंको पुलकित करनेवाला था, गायों तकको अपनी ओर इस तरह आकर्षित कर लेता था कि वे चारा दाँतमें लिये चित्रलिखित-सी खड़ी रह जाती थीं; और बादल मानो उसका साथ देनेके लिए मन्द-मन्द गर्जन करता था । इन दोनों दिशाओंमें प्रकृतिके प्रति एक विराट् सृष्टिका विस्तार हुआ ।

कालिदास, बाणभट्ट और भवभूतिके काव्यमें प्रकृतिके प्रति ऐसी ही दृष्टिका परिचय मिलता है । इन तीनों कवियोंने अपने-अपने ढङ्गसे मनुष्यकी संवेदनामें प्रकृतिको साझीदार बनाया है । कालिदासका मेघदूत तो पृथ्वीकी आकांक्षाका गतिशील रूपान्तर है । इसी मानेमें कालिदास वाल्मीकिसे विशिष्ट हैं कि वह प्रकृतिके उच्छल और क्रीडाशील रूपके कवि हैं, वाल्मीकिकी तरह स्थिर

सौन्दर्यका नहीं। कालिदासने ब्यौरेमें जानेकी कोशिश कभी नहीं की और वातावरणका बहुत संक्षिप्त-सा अंश उन्होंने अपने काव्यमें स्थान-स्थानपर रखा है। उनके इस संयमके कारण ही प्रकृतिका जो रूप उनके काव्यमें उतरा वह बहुत पानीदार और बाँका है। चाहे विषम उपलोंमें रिस-रिस कर बहती हुई नदीका चित्र हो, चाहे पहाड़के नीचे सारीके छोरकी तरह दिखनेवाली नदीका चित्र हो, चाहे छोटी-सी बामीका चित्र हो, या अमराईसे ढँकी हुई पहाड़ीका या देव-वनिताओंके दर्पण बने कैलाशका; चाहे शैवाल का चित्र हो, चाहे कमलका; और चाहे बिजलियोंके आवेगका चित्र हो, या सबेरेकी ओस-भरी निष्कम्प वनस्थलीका; कविकी दृष्टि एक-सी स्वच्छ और समग्र है। कालिदासकी प्रकृति मनुष्यकी सत्ता से खण्डित करके देखी ही नहीं जा सकती। शकुन्तलाके सौन्दर्यकी रचना तबतक अधूरी रहती है, जबतक कि ऊँचे हिमालयकी धुँधली हिमपंक्ति, मालिनीके किनारे वृक्षोंपर सुखाये जाते हुए वल्कल, मालिनीके पुलिनमें विहार करती हुई हंसोंकी जोड़ी और पेड़ोंके नीचे अपने प्रियके सींगसे आँख खुजलाती हुई मृगी इस वातावरणमें नहीं रखी जाती; और जबतक कि उसके कानोंमें गालतक लटकनेवाला शिरीषका फूल नहीं खोंसा जाता और उसके स्तनोंके बीच शरत्के चन्द्रमाकी किरणकी तरह कोमल मृणालसूत्र नहीं रखा जाता। इसी तरह भवभूतिकी सीता और बाणकी महाश्वेता अपने चरित्रकी उज्ज्वलताके समस्त उपादान प्रकृतिसे पाती हैं। भवभूति की सीताका चित्र उनके द्वारा पाले गये मृग, मयूर, गजशावक, कदम्बके वृक्ष एवं सरकी वनदेवता वासन्ती, माता-सरीखी गंगा, गोदावरी, तमसा और मुरला जैसी नदियोंके बिना अधूरा है। महाश्वेता अच्छोदसरोवरके बिना फीकी लगेगी। कालिदासके लिए प्रकृति नयी बहूकी तरह सजी हुई कुतूहलमयी, मुग्ध और उल्लसित है। भवभूतिके लिए प्रकृति चिरपरिचित सहचरी है। बाणभट्टके लिए प्रकृति एक विदग्ध कलामर्मज्ञ परकीयाकी तरह हाव-

भाव कुशल होनेके कारण उद्दीपक है। पर तीनोंके लिए प्रकृति अपरिहार्य है। इनके अलावा संस्कृतके अन्य महाकवियोंमें प्रकृति के प्रति जो दृष्टि है, वह बहुत कुछ परम्परा-निर्वाहकी होनेके कारण हार्दिक एवं स्पष्ट है। उनके काव्योंमें प्रकृतिके एक-आध खण्डचित्र चाहे मिल जायें, मनुष्य जीवनमें अनुस्यूत चित्र नहीं मिल सकता।

इस परम्परासे कुछ विलग परम्परा लोककाव्योंकी है। वैसे इसका सूत्रपात ऋग्वेद एवं अथर्ववेदके उन सूक्तोंसे मानना चाहिए जिनमें खेतिहर जन अर्थात् सामान्य जनके मनोभावोंको चित्रित करनेकी कोशिश की गयी है और प्रकृतिके उस रूपपर ध्यान केन्द्रित किया गया है जो इस सामान्य जीवनको आप्यायित किये रहता है। कृषि, वृष्टि, ओषधि, आप् और पृथ्वीसे सम्बन्धित सूक्तोंमें प्रकृतिके इस रूपका परिचय मिलता है। इस लोकधर्म-परम्पराका विकास प्राकृत मुक्तक काव्यमें और अपभ्रंश मुक्तक काव्यमें बहुत अच्छी तरह हुआ है। 'गाहा सत्तसई' में बहुतसे ऐसे चित्र संकलित हैं। परवर्ती टीकाकारोंने इनके साथ कहीं-न-कहीं नायक-नायिका व्यापारको जोड़नेकी कोशिश ज़रूर की, पर वास्तविक रूपमें इन गाथाओंका महत्त्व ग्राम या अरण्य प्रकृतिकी निर्मल छवि अंकित करनेमें ही था। विन्ध्य-पर्वतमालासे आषाढ़में आकर बिछुड़ती हुई बादलोंकी भीड़का चित्र है :

> "विन्ध्य पर्वतसे लगे बादल उससे अलग होते समय ऐसे मिलते हैं मानो वे किसी नवरसाते पेड़की पुरानी छाल हों।"

एक स्थिर सौन्दर्यका चित्र है :

> "पुरइनके पत्तेपर निश्चल और निष्पन्द बैठी हुई बगुली ऐसी लगती है, मानो मरकतके पात्रमें रखी हुई शंखकी सुतुई हो।"

हेमन्तमें उजड़े हुए पुराने बरगद वृक्षकी दुर्दशाका कवि स्मरण कर रहा है :

"बरगदकी जटाएँ एक-एक करके जड़से टूटती जा रही हैं, उनके नीचे उपले सुलग रहे हैं, धुएँसे पेड़ भूरा हो उठा है और तनेपर गोबरके कण्डे पाथनेसे पेड़के रोम-रोममें गोबरकी गन्ध व्याप्त है। यह बूढ़ा बरगदका पेड़ इस हेमन्त ऋतुमें अपनी चरम दुर्दशाको पहुँच गया है[1]।"

दूध लेते हुए अगहनीके खेतको देखकर किसानकी ख़ुशी कैसी होती है :

जैसे कोई दूध-पीते बच्चेको घुटनोंके बल पंकमें लिपटते देख कर उल्लसित हो जाता है, वैसे ही किसान जब अगहनीके खेतको ज़मीनमें लोटते देखता हैं और लोटनेके कारण जब उस खेतमें गहरी पाँकका आभास पा जाता है तो आह्लादित हो उठता है[2]।"

धानकी गन्धने संस्कृतके एकाध कवियोंका ध्यान खींचा है। राजशेखरने खेतिहरके आँगनका वर्णन करते हुए नये धानकी दूर तक उड़नेवाली गन्धका स्मरण किया है[3]।

इस लोकधर्मी काव्यकी ही परम्परामें ऋतुओंके गीत और संस्कारोंके वे गीत आते हैं, जिनमें खेतिहर जीवनसे उर्वरताकी स्फूर्ति ली गयी है। भारतकी प्रत्येक जन-भाषामें ऐसे गीत मिलते

---

१. सूइज्जइ हेमन्तम्मि दुग्गओ पुप्फुआसुअन्धेण।
धूमकविलेशा परिकिरलतन्तुणा जुण्णवडएण॥

२. पंकमइलेण छीरेकपाइणा दिण्णजाणुवडणेण।
आणन्दिज्जइ हलिओ पुत्तेणत्व सालिच्छेत्रेण॥

३. गेहारिजेषु नवशालिकणावपातै-
र्गन्धानुभावसुभगेषु कृषीवलानाम्।
आनन्दयति मुसलोल्लसनावघात-
प्रेङ्खत्ववणद्वलयपद्धतयो वधूट्यः॥

हैं। इन गीतोंमें प्रकृति जीवनके मापदण्डके रूपमें आती है। समयका आकलन वर्षोंमें नहीं किया जाता; बल्कि जो पेड़ प्रियने आँगनमें लगाया था, वह फल-फूलसे झपस उठा, इस वर्णनके द्वारा कराया जाता है। समृद्धिकी कामनाका चित्र चन्दनकी चौकी, फलोंसे लदी आमकी डाल और तालमें हलसानेवाली पुरइनके बिना पूरा नहीं हो पाता। कौए तक प्रियके आनेका सगुन उचारते हैं, वंश-वृद्धिका आशीर्वाद देते हैं और मिट्टीके नये सकोरेमें जज़्ब होता हुआ पानी प्रियके साथ तादात्म्य प्राप्त करके सुख देता है, ऋतुओंके बदलते हुए चक्र विरहको नाना मोड़ देते हैं और प्रियसे मिलनेकी नयी आकुलता उपजाते हैं। नदीकी एक-एक लहर अविश्वास है, जंगलका हर एक पंछी ममता है और बागका हर एक पेड़ रक्षक है।

बहुविध परम्पराके सन्दर्भमें जब हम हिन्दी काव्यके विभिन्न युगोंमें आते हैं तो हमें हिन्दीके पिछले युगोंमें प्रकृतिके प्रति जहाँ एक ओर बहुत रूढ़िबद्ध दृष्टि मिलती है वहीं कुछ कवियोंमें बिम्ब-विधानके क्षेत्रमें प्रकृतिके प्रति सर्वथा नूतन दृष्टि भी मिलती है। वैसे सर्वांशमें यह सच न भी हो तो अधिकांश भजन हिन्दी-कवियोंके बारेमें यह निर्विवाद रूपसे कहा जा सकता है कि वे प्रकृति-वर्णनकी रूढ़िसे परिचित थे, प्रकृतिके वास्तविक महत्त्वसे नहीं। प्रकृति-वर्णन या तो संस्कृत कवियोंके अनुवाद हैं या इतने अयथार्थ और अनुपयुक्त हैं कि उन्हें पढ़कर कभी-कभी खीझ होती है। वसन्तमें खिलनेवाले तमाम फूलोंमें आम, पलाश, अनार, कचनार और मालतीको छोड़कर किसीने दूसरे फूलोंकी सुधि नहीं ली। कालिदासने कुरबकको वसन्तका शृङ्गार माना था; शिरीषको ग्रीष्मका, कदम्बको वर्षाका, कमलको शरत्का, कुन्दको हेमन्तका, और लोध्रको शिशिरका शृङ्गार माना था। पर विविधताकी ओर इन लोगोंकी दृष्टि ही नहीं थी। उनके लिए सारा जंगल पलाशमय, सारा उपवन रसालमय और सारे सरोवर नलिनमय थे। ऋतुओं

की गतिसे भी ये अपरिचित-से थे। वसन्त और वर्षाके वर्णनमें ये अधिक डूबे हुए थे, इनके लिए प्रकृति-मात्र उद्दीपक थी और उद्दीपन भी केवल शृङ्गार की।

आधुनिक युगके प्रारम्भमें पद्यसे अधिक गद्यके माध्यमसे प्रकृति-वर्णनके बड़े सुथरे चित्र सामने आये। ठाकुर जगमोहन सिंहका 'श्यामा-स्वप्न', बद्रीनारायण चौधरीकी 'आनन्दकादम्बिनी' के सम्पादकीय और माधव मिश्र तथा पूर्णसिंहके निबन्ध प्रकृतिके ऐसे चित्र उपस्थित करते हैं कि उनसे यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि इनके लिए प्रकृति उद्दीपन न होकर आलम्बन थी—बल्कि आलम्बनसे भी कुछ ऊपर जाकर साक्षात् रस-भूमि तक पहुँची हुई थी। प्रकृतिके लिए इस नये समुच्छ्वासका प्रभाव रामचन्द्र शुक्ल, श्रीधर पाठक और सुमित्रानन्दन पन्तके ऊपर बहुत गहरा पड़ा। प्रकृतिके प्रति दृष्टिमें अन्तर मुख्यतः तीन कारणोंसे आये—पहला तो विदेशी कविताका, विशेष रूपसे रोमाण्टिक युगकी कविताका, प्रकृतिकी ओर आन्दोलन था; दूसरा प्राचीन संस्कृत काव्यके प्रति विदेशियों द्वारा ध्यान दिलाये जानेपर उनके नये ढङ्गसे मूल्याङ्कनका प्रभाव था; और अन्तिम कारण राष्ट्रीय आन्दोलनके सहचरके रूपमें भारतकी प्रकृतिके प्रति विशेष रूपसे वात्सल्यकी भावनाका उमगाव था। द्विवेदी-युगमें गद्यके क्षेत्रमें प्रकृति-वर्णनकी रंगीनी बहुत हदतक नियन्त्रित हुई। इसका कारण मुख्य यह था कि प्रकृति-वर्णनके साथ-साथ जो स्थानीय शब्दोंके प्रयोग सहज रूपमें आ जाते थे उनको द्विवेदी युगके नियामक 'पण्डिताऊ' या 'ग्राम प्रयोग' कहकर दाग देते थे। लोग इसीसे बहुत सूफ़ियाना ढङ्गपर ही प्रकृतिका वर्णन करनेके लिए प्रस्तुत होते थे। द्विवेदी-जीके अनन्यतम मित्र श्रीधर पाठक प्रकृति-वर्णनकी द्विवेदी कसौटी पर इसीलिए बहुत खरे उतरते थे। उस युगमें दो नाम ऐसे हैं जो अब बहुत विस्मृत-से हैं पर इन्हें प्रकृतिकी सन्तान कहें तो

अनुचित न होगा। एक तो व्रजवासी सत्यनारायण 'कविरत्न' और दूसरे बुन्देलखण्डके कवि घासीराम व्यास। वैसे बुन्देलखण्डमें बुन्देली भाषाके माध्यमसे लोक-प्रचलित छन्दोंमें गंगाधर व्यास और ईसुरीने भी बुन्देली प्रकृतिके चित्र सहज ढङ्गसे उतारे हैं, पर उनकी योजना अधिक संश्लिष्ट है। सत्यनारायण 'कविरत्न' और घासीराम व्यास एक तरह हिन्दीमें आञ्चलिक चित्रणके जन्मदाता हैं। द्विवेदी-युगके सर्वश्रेष्ठ माने जानेवाले कवि मैथिलीशरण गुप्त उस युगके लिए एक आश्चर्य इस दृष्टिमें ज़रूर हैं कि वह अपने ही समकालीन, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की तरह प्रकृतिके वर्णनकी परिगणनात्मक पद्धति न अपनाकर प्रकृतिका भावात्मक रूप सामने रखते हैं। मैथिलीशरण गुप्तसे भी अधिक सुकुमार प्रतिक्रिया प्रकृतिने सियारामशरण गुप्तके काव्यमें पायी है।

इस युगका समाज जिस युगको छायावाद युग कहता है, वह वस्तुतः इतिवृत्तात्मक काव्यके विरुद्ध प्रतिक्रियाका युग है। प्रतिक्रिया-युग होने के कारण ही वह बहुत क्षणिक, पर तीव्र प्रभाव वाला रहा है। इस युगमें प्रकृतिका उपयोग सबसे अधिक बिम्ब-विधानके क्षेत्रमें हुआ। सिद्ध प्रकृति-वर्णन पन्तके काव्यमें है या 'प्रसाद' और 'निराला' के कुछ थोड़ेसे गीतोंमें। महादेवी वर्माके काव्यमें प्रकृतिको काव्य-बिम्बोंके एक निधि मात्रके रूपमें देखा गया है। उसमें भी नूतनता लानेकी कोशिश उतनी नहीं की गयी है जितनी पूर्वगृहीत बिम्बोंको अधिक सँवारने की। बिम्ब-विधानकी दृष्टिसे इस युगके सबसे समर्थ कवि 'निराला' हैं। इसी युगमें माखनलाल चतुर्वेदीका भी नाम आता है जिन्होंने भारतकी प्रकृतिको मानवीय आकृति देनेकी बुरी तरह चेष्टा की है। उनमें प्रकृति-वर्णन कम, आराधना अधिक है। समग्र दृष्टिसे देखनेपर इस युगके अधिकतर कवियोंने प्रकृतिके प्रति खण्ड-दृष्टि ही रखी है और प्राकृतिक जीवनको एक अलग इकाईके ही रूपमें देखा है। इनके

लिए प्रकृति आत्मीय न होकर दूरकी आकृति है। वह स्नेहकी केन्द्रवस्तु न होकर विस्मय या श्रद्धाकी केन्द्रविन्दु है।

अब हम जब नयी कविताओंके युगपर दृष्टि डालते हैं तो प्रकृति-वर्णनके क्षेत्रमें बहुत बड़ा परिवर्तन पाते हैं। इस परिवर्तनके आन्तरिक कारण तो ये हैं कि छायावादकी नकाबपोश कृत्रिमतासे स्वयं छायावादी कवि ही ऊबने लगे थे। दूसरा आन्तरिक कारण संगीतात्मक शब्दों और अनुनासिक लयोंकी अतिशय मधुरतासे उकताहट थी। तीसरा आन्तरिक कारण अनुभाव्य संस्पर्शके लिए आदृश्य संस्पर्शकी अपेक्षा अधिक बेचैनीका आना था। और अन्तिम आन्तरिक कारण प्रतिक्रियाकी तीव्रताकी समाप्ति होनेपर सहज अथवा सर्वग्राही अनुभव और अभिव्यक्तिके लिए पर्युत्सुक होना था।

आन्तरिक कारणोंसे भी अधिक महत्त्व वे बाह्य कारण रखते हैं जो काव्य-प्रतिक्रियासे साक्षात् सम्बन्ध न रखते हुए भी कविके परिवेशसे सम्बन्धित होनेके कारण नयी दृष्टि ला सके हैं। बौद्धिक क्षेत्रमें सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन जो इस युगमें हुआ है वह है प्रश्नाकुलताका हर एक क्षेत्रमें विस्तार। प्रकृति-वर्णनके भी क्षेत्रमें इसके कारण नये अन्वेषण किये गये हैं—कोयल और पपीहेके अलावा कुररी, पिड़कुल, हारिल जैसे पक्षियोंकी भी सुधि ली गयी है। फूलोंमें बाजरे, बबूल, बौंड़र, अमलतास और साल जैसे फूलोंमें भी आकर्षण देखने लगे हैं। यहाँतक कि हर अच्छीसे-अच्छी घास, हर रातकी हर एक करवट, और रंगकी हर छटाको काव्यमें देनेके लिए होड़-सी मच गयी है। कहीं-कहीं असमर्थ और दिखाऊ कवियोंके हाथोंमें पड़कर बहुत उपहासास्पद स्थिति सामने आयी है। पर वंशीधर शुक्ल, भवानीप्रसाद मिश्र, ठाकुरप्रसाद सिंह जैसे आरण्य कवियोंने प्रकृतिके यथार्थ और अत्यन्त हृदय-स्पर्शी चित्र खोजे हैं। भवानीप्रसाद विन्ध्यकी प्रकृतिके पारखी

हैं, वंशीधर शुक्ल अवधकी देहाती प्रकृतिके और ठाकुरप्रसाद छोटा नागपुरकी प्रकृतिके। दूसरी बौद्धिक स्थिति बिखरावकी है। इस बिखरावके कारण ही नये कवि प्रकृतिसे जब एक बिम्ब लेना चाहते हैं तो उन्हें उसके विरुद्ध या उसके तुल्य अनेक बिम्ब याद आ जाते हैं और वे अपने इन तमाम बिम्बोंको बहुत बिखेर कर काव्यमें रखते हैं। सांगरूपक या वर्ण उपमाकी भाषामें कवि इसीलिए नहीं बात कर पाता। वह अधिकतर रूपकातिशयोक्ति, समासोक्ति, पर्यायोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसा आदि सूक्ष्म अलंकारकी भाषा बोलनेका आदी हो गया है। वह जब साँझके बादलका चित्र खींचेगा तो बिना किसी बादल और उसके बदलते रंगोंका नाम लिये उन्हें एक बहुत ही समर्थ बिम्बसे व्यक्त करेगा।

साँझके बादल

ये अनजान नदी की नावें
जादू के-से पाल
उड़ाती
आतीं
मन्थर चाल!
नीलम पर किरनों
की साँझी
एक न डोरी
एक न माँझी
फिर भी लाद निरन्तर लातीं
सेन्दुर और प्रवाल!

(धर्मवीर भारती)

इसी बिखरावके कारण वह अपने विकीर्ण अनुभव और प्रकृतिके चित्रमें जोड़े देखता चलता है।

इंजन के हेडलाइट-सा शोर-गुल के बीच
सूरज निकल गया;
गाड़ी की रोशनी-सा पीछे-पीछे गुमसुम अब
शुक्र तारा जा रहा है।

(मदन वात्स्यायन)

या

वसन्त के शहर भर में
लग गये हैं नये पोस्टर।
आवारा सीटीबाज़···
आ गया हमारी शरीफ़ सड़क कसने आवाज़।

(विनोदचन्द्र पांडेय)

इस निःसंगताका और परिणाम है प्रकृतिका वैज्ञानिक विवेचन। 'अज्ञेय'की 'बावरा अहेरी' शीर्षक कवितामें प्रकृति और विज्ञानको अखण्ड रूपमें देखनेकी कोशिश की गयी है।

बौद्धिक प्रभावसे कम प्रभाव सामाजिक वातावरणका नहीं है। स्वतन्त्रता प्राप्तिके बाद साहित्यकारके मनमें कमसे कम दो आयामोंमें संस्कृतिको पुनराकलित करनेकी अपरिहार्यता जान पड़ती है। एक तो देशका आयाम अब विस्तृत हो गया और प्रकृति देशकी मर्यादासे भावनासे अधिक यथार्थके स्तरपर बँधी रहने लगी। दूसरा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन संस्कृतिके विस्तृत इतिहासके साथ संयोजन करनेके कारण हुआ। इसीके परिणामस्वरूप वैदिक साहित्य और प्राचीन भारतीय साहित्यसे शक्तिशाली और चिर-नूतन बिम्बोंको नये ढंगसे कवितामें उभारा गया। सुमित्रानन्दन पन्तकी 'धेनुएँ' शीर्षक कविताकी ये पंक्तियाँ ऋग्वेदमें छन्द द्वारा बाहर निकाली जाती हुई गायोंके वर्णनसे तुलनीय हैं—

ओ रँभाती नदियो,
बेसुध
   कहाँ भागी जाती हो?
वंशी-रव
   तुम्हारे ही भीतर है
ओ फेन-गुच्छ
   लहरोंकी पूँछ उठाये
   दौड़ती नदियो !

प्राचीन काव्यका प्रभाव नागार्जुनकी 'बादल' शीर्षक कविता पर, 'अज्ञेय' की 'वहाँ रात' और 'बन्धु है नदियाँ' शीर्षक कविताओंपर, ठाकुरप्रसाद सिंहकी 'अष्टादश दीपमाल' शीर्षक कविता पर और भवानीप्रसाद मिश्रकी 'सतपुड़ाके जंगल', 'मेघदूत' और 'नर्मदाके चित्र' शीर्षक कविताओंपर बड़ा गहरा है। नयी कविता के प्रकृति-वर्णनमें यह विशेषता उसे परम्परासे जहाँ भली भाँति जोड़ती है वहाँ पिछली पीढ़ीवाले आलोचकोंके लिए बिलकुल विद्रोहिनी-सी जान पड़ती है।

सांस्कृतिक वातावरणमें दूसरा परिवर्तन शहरोंकी बढ़तीके, बेतरतीब बसने और गाँवोंके उजड़नेके कारण उपस्थित हुआ है। ये संस्मरण जहाँ एक ओर ऊँचे मकानों, धूल-भरी सड़कों और कोलाहल-भरे माइक्रोफ़ोनसे त्राण पानेके लिए छोटे-से कोनेमें गमलों या चार हाथ ज़मीनमें हरियाली और ख़ुशबूके साथ चुपचाप कुछ क्षण देनेको विवश कर देते हैं, वहीं दूसरी ओर देहातमें पले लोगोंके मनमें गहरा विक्षोभ भी भर देते हैं उन शक्तियोंके प्रति जो उन्हें उजाड़ रही हैं। इसके कारण अनामसे अनाम फूल भी अब कवितामें नाम और आकार पाने लगे हैं। उड़ियामें 'अमृत सन्तान', बंगलामें 'पथेर पांचाली' और 'आरण्यक', हिन्दीमें 'कचनार', गुजरातीमें 'सोरठ तेरा बहता पानी' और कन्नड़में 'देहाती

समाज' जैसे उपन्यास तो समूचे ही देहात या जंगलके जीवनसे वातावरण बनाकर लिखे गये हैं। इधर हालमें हिन्दीमें फणीश्वर-नाथ 'रेणु' और नागार्जुनने तो आंचलिक उपन्यासोंकी एक लहर-सी उठा दी है। काव्य-साहित्यमें भी विभिन्न जनपदोंमें आंचलिक प्रकृतिके चित्र इसी संवेदनासे प्रेरित होकर रचे गये। इन गीतोंमें स्वप्नमय वातावरणका गहरा रंग है। इसीसे इनकी नक़ल भी बहुत मनमाने ढंगसे हुई है जिसका परिणाम यह हुआ है कि बेला, तुलसी, नीम, आम, बबूल, सरसों, कास और महुआकी घोर दुर्दशा होने लगी है। इन नामोंको अब जादूके मन्त्रकी तरहसे कवितामें प्रयोग किया जाने लगा है। तब भी बुन्देलीमें बंशीधर पण्डाके स्मृति-गीत, अवधीमें बंशीधर शुक्लके चित्र, भोजपुरीमें बिसरामके बिरहे, खड़ी बोलीमें ठाकुरप्रसाद सिंहके सन्थाली चित्र, केदारनाथ अग्रवालके खेतिहर जीवनके चित्र काफ़ी हृदयस्पर्शी हैं। शहरके वातावरणसे अभिभूत कवियोंने प्रकृतिके बड़े नन्हें और सुकुमार रूपोंमें आह्लादका कण खोजा है। कोई हरी घासपर क्षण-भर सार्थकता मानता है तो कोई कचनारकी कलीकी कन-खियोंमें सब कुछ पा जाता है, किसीको पत्तियाँ मनानेके लिए विवश कर देती हैं, कोई गौरैयामें भी उत्फुल्लताका उत्कर्ष पा जाता है तो कोई नागफनीमें भी संघर्षमें हँसनेकी क्षमता खोज लेता है। खेतिहर और औद्योगिक, और नागर और ग्राम्य जीवनके बीच छिड़े संघर्षसे रूमानी तबीयतवाले कवियोंमें खँडहरों, टीलों और जंगलोंके बीच इतिहासकी रथ-यात्रा निकालनेकी स्फूर्ति भी जागने लगी है। गिरिजाकुमार माथुर इसके बहुत सफल उदाहरण हैं।

तीसरा सांस्कृतिक परिवेश आर्थिक क्षेत्रसे सम्बन्ध रखता है, विशेष रूपसे कवियोंके। जैसे प्रयोगमें बुद्धिजीवियोंकी संख्या अधिक है, उस वर्गकी आर्थिक परिस्थितिका प्रभाव काव्य-रचना पर किसी-न-किसी प्रकारसे पड़ता ही है। अर्थवैषम्यके बीचकी

कड़ी है मध्यम वर्ग और इसी मध्यम वर्गको बुद्धिजीवियोंको भी पैदा करनेका फ़ख़ हासिल है। यह वर्ग क्रमशः टूट रहा है। इसके कारण अर्थवैषम्य और ऊँचा होता चला जा रहा है। इसकी मानसिक प्रतिक्रिया दो तरहसे संलक्षित हुई है—एक तो बड़े और अभिजात कहे जानेवाले पदार्थोंसे विरक्ति और दूसरे अपनेमें ही अधिक खोजनेकी प्रवृत्ति। इसीसे सौन्दर्यके पुराने प्रमाण अब बासी-से लगते हैं। नये प्रमाणोंकी खोज लोक-साहित्यमें, दूसरे देशोंके साहित्यमें और अपने निजी अनुभवोंमें जारी है। इसके कारण बिम्ब-विधानमें विलक्षणता काफ़ी मात्रामें आयी है जो कहीं-कहीं बहुत अटपटी भी लगती है। दूसरी ओर अपनेमें ही खोये कवि प्रकृतिके प्रति ऐसे विरक्त हो गये हैं कि उनका अपने आर्थिक या राजनैतिक सिद्धान्तके सिवाय कवितामें किसी अन्य सत्ताके प्रति कोई रुझान नहीं है।

इस प्रकार नयी कविता जहाँ प्रकृति-वर्णनकी पिछली परम्पराओं-में अनेक नये तत्त्वोंका समावेश करती है वहाँ वह प्राचीन भार-तीय काव्य परम्पराके समीप भी इस मानेमें लगती है कि वह विविधता, पारदर्शिता और उन्मुक्ततामें उससे कम नहीं है। इसमें ख़तरेकी सम्भावनाएँ उन कवियोंसे हैं जो बिम्बोंमें बेतरह उलझे हुए हैं, या उनसे जो प्रकृति-बिम्बोंका प्रयोग बिना अर्थ समझे ही करने लगते हैं, या उन कवियोंसे है जो भावावेशमें प्रकृतिके साथ अनुराग बढ़ानेकी बात करते हुए भी उसे ऐसा अपरिचित और स्वप्नमय प्रस्तुत करते हैं कि उससे प्रकृतिकी विमुखताकी ही आशंका उत्पन्न होती है। लेकिन इन ख़तरोंके संकेत समर्थ कवियों में ज़्यादा नहीं है, यह बहुत ही शुभ लक्षण है।

आधुनिक काव्यमें प्रकृतिकी परिकल्पना

भारतीय साहित्यके इतिहासमें पाश्चात्य साहित्य और संस्कृति-के गहन सम्पर्कसे एक बिलकुल नये युगका आरम्भ होता है। साहित्य सांस्कृतिक प्रक्रियाकी प्रेरक शक्ति हो सकता है और उसके संचरणकी उपलब्धि भी। भारतीय और यूरोपीय जीवन-दृष्टियोंमें कहीं किसी स्तर पर मौलिक अन्तर रहा है, जिससे उनके सांस्कृतिक संचरणकी सारी प्रक्रिया मौलिक मूल्यों और प्रतिमानोंके विभिन्न आयाम प्रस्तुत करती है। भारतने अपनी व्यापक भाव-धारा और सूक्ष्म जीवन-दृष्टिसे सदा संसारकी भौतिकता, क्षणिकता, मायात्मकताके अतिक्रमणका प्रयत्न किया है, और अलौकिक, शाश्वत तथा परम सत्यकी अनवरत खोज की है। इसके विपरीत यूरोपने अपनी मध्ययुगीन गहरी धार्मिकताके बावजूद जीवनके यथार्थको उसकी सम्पूर्ण क्षणिकता, विरूपता, मांसलतामें अधिकसे अधिक गहराईसे और सूक्ष्मतासे अनुभूत करनेकी निरन्तर कोशिश की है। एकने जीवनके अर्थकी खोजकी है और दूसरेने जीनेको सार्थक करनेकी कोशिश की है। ऐसी ही विपरीत जीवन-दृष्टियों और भिन्न प्रतिमानोंके सम्पर्कसे हमारे आधुनिक साहित्यका विकास हुआ है।

अपनी इसी व्यापक जीवन-दृष्टिके कारण भारतीय साहित्य-में रोमांटिक भावनाकी मुक्ति, स्वच्छन्दता, वैयक्तिकता और उल्लासका अभाव रहा है और इसी कारण विषयिगत (सब्जेक्टिव) प्रगीतियोंका भी विकास अधिक नहीं हो सका है। इसी संघर्षमें आनन्द कुमारस्वामीकी कृति 'ट्रांसफ़ार्मेशन ऑफ़ नेचर' के अन्तर्गत भारतीय सादृश्य-भावना सम्बन्धी स्थापनाका उल्लेख भी

प्रासंगिक है। यूरोपके प्रकृति-सम्बन्धी 'अनुकरण' सिद्धान्तके विपरीत भारतमें प्रकृतिके सादृश्यकी परिकल्पना प्रमुख रही है। इस परिस्थितिमें भारतीय साहित्यमें प्रकृति एक निश्चित दृष्टिसे प्रस्तुत हुई है।

परन्तु मुख्य बात यह नहीं है कि भारतीय साहित्यमें प्रकृतिका उपयोग प्रायः मानवीय भावोंके उद्दीपन-विभावके रूपमें किया गया है, जैसा कि संस्कृत और उसके अनुसरण पर अन्य भाषाओंके काव्य-शास्त्रोंमें निर्दिष्ट और विवेचित है। साहित्यके साक्ष्यपर यह कहा जा सकता है कि उत्कृष्ट साहित्यमें प्रकृति मानवीय शरीरमें, मानवीय प्राणों और भावनाओंसे संवेदित उसकी सखी, सहचरी और आत्मीय बन्धुके रूपमें चित्रित है। वास्तवमें प्रकृतिका आत्मीय और सख्य भाव भारतीय दृष्टिकी विशेषता माना जायगा, क्योंकि पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, जड-चेतनको समान भावसे ग्रहण करनेकी प्रेरणा उससे मिलती है। ऐसा भी नहीं है कि भारतीय कवि प्रकृतिको सचेतन, सप्राण, संवेदित नहीं कर सका है; यह प्रश्न भिन्न है कि उसकी सीमा क्या है ?

मौलिक प्रश्न है कि भारतीय कविने प्रकृतिका प्रत्यक्षीकरण उसके स्वतन्त्र और मुक्त व्यक्तित्वके रूपमें नहीं किया। एक तो व्यापक रूपसे उसके काव्यमें विषयि-पक्ष (सब्जेक्टिविटी) का अभाव है, इस कारण प्रकृतिके प्रति उसकी दृष्टि वस्तु-परक ही रही है। वह उसके रंग-रूपको देख सका, वह उसमें मानव-आकृतियाँ झलकती हुई पाता है, वह मानवीय भावनाओं और संवेदनाओंका आरोप भी उसपर करता है, और कभी वातावरणकी अभिन्नताके कारण अपने पात्रोंकी निकटतामें उसे आत्मीय रूपमें भी चित्रित करता है। परन्तु वह स्वयं प्रकृतिके नाना रूपों, विभिन्न रंगों और छायातपों, उसकी गति और संचरण, उसकी विराटता, उसके ऐश्वर्य, उसकी भव्यता, उसकी कोमलताका प्रत्यक्षीकरण नहीं कर पाया। प्रकृति उसके अनुभवका विषय नहीं

बन पाती, इसी कारण कल्पनात्मक प्रत्यक्षीकरण (इमेजिनेटिव पर्सेप्शन) के स्थानपर वह सदा परप्रत्यक्ष और सामान्य प्रत्ययके रूप (कांसेप्टुअल फ़ॉर्म) में ही ग्रहण की जा सकती है। प्रकृतिके विषयमें ही क्यों, यह तो भारतीय साहित्यकी व्यापक सीमा है।

इसीसे सम्बद्ध दूसरी बात है भारतीय साहित्यमें रोमाण्टिक भावनाके अभावकी। इस कारण कविने कभी प्रकृतिको उस स्वच्छन्द और मुक्त भावनाके आधारपर ग्रहण नहीं किया, जिसमें प्रकृति जीवित और स्फुरित प्रत्यक्ष हो उठती है। इस स्थितिमें प्रकृति मानवीय जीवनसे आरोपित और अनुप्राणित अंकित न होकर अपने ही मुक्त और सहज जीवनमें प्रस्तुत होती है। और इसका यह रूप मानस-परक प्रगीतियोंकी भावधाराके अनुरूप होता है।

हमारे साहित्यका आधुनिक युग, जैसा कहा गया है, पाश्चात्य संस्कृति और साहित्यसे उत्प्रेरित है। परन्तु अपने प्रारम्भिक चरणमें जागरणकी सारी चेष्टा सामाजिक, धार्मिक स्तरकी है, जिसमें अर्थनीति और राजनीति प्रत्यक्ष न होकर केवल अन्तर्निहित हैं। इसी कारण भारतेन्दु-युगमें आधुनिक सजगताके अनुरूप गद्य और गद्यात्मक साहित्य-रूपोंका ही विकास हुआ है। काव्यकी भाषा और व्यञ्जना तथा वातावरण प्राचीन परम्परासे अधिक अर्थोंमें सम्बद्ध रहा है। कहीं यदि परम्परासे अलग होनेकी भावना पायी जाती है तो वह केवल सामाजिक स्तरपर।

काव्य-क्षेत्रमें नये युगका आरम्भ २०वीं शताब्दीके प्रारम्भसे माना जायगा। ब्रजभाषाको छोड़कर कविता खड़ी बोलीको स्वीकार रही थी, और यह काव्यके नये आन्दोलनका सबसे महत्त्वपूर्ण क़दम था। इसीके साथ काव्यमें युगके अनुरूप नयी भावनाएँ, नयी कल्पनाएँ और नये विचारोंका प्रवेश हुआ है। परन्तु भारतेन्दु-कालीन रोमाण्टिक भावनाके स्थानपर इस युगमें एक बार पुनरुत्थानकी भावनाका विस्तार हुआ। इस कारण इस युगके काव्यमें

विद्रोहकी प्रवृत्ति रीतिकालीन रूढ़िवादिताके विरुद्ध ही अधिक है। जिन साहित्यिक आदर्शोंको स्वीकार किया गया है, वे भारतीय प्राचीन साहित्यके आदर्शों और प्रतिमानोंसे बहुत दूरतक प्रेरित और प्रभावित हैं।

परिणामस्वरूप महावीरप्रसाद द्विवेदीके निर्देशनमें जिस काव्यान्दोलनका प्रारम्भ हुआ था और जिसके प्रमुख कवि मैथिली-शरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय और रामचरित उपाध्याय हैं, उसमें काव्यकी अन्य दृष्टियों तथा मान्यताओंके साथ प्रकृति-सम्बन्धी भावना वस्तु-परक रही है। यह अवश्य है कि एक लम्बी परम्परासे साहित्यमें प्रकृतिका स्थान नायक-नायिकाओंकी भाव-नाओंके उद्दीपन-विभावके अन्तर्गत सीमित हो गया था, उससे उसे मुक्ति मिल सकी। इस युगके कवियोंने प्रकृतिको उसके स्वतन्त्र रूप-रंगोंमें, उसकी क्रिया-प्रक्रियामें अंकित किया है, परन्तु प्रमुखतः उनकी दृष्टि वस्तु-परक रही है। उन्होंने अपने वर्णना-त्मक काव्योंमें प्रकृतिको कथाके चतुर्दिक् फैले हुए वस्तुगत आधार के रूपमें अंकित किया है, अथवा कहीं-कहीं प्रकृति-वर्णनके माध्यमसे कथाकी घटनाओं और चरित्रोंके मनोभावोंकी अनुकूलता (कभी-कभी वैपरीत्य) को व्यंजित किया है। परन्तु ऐसा भी प्रकृतिके अपने जीवन और मनःस्थितियों (मूड) के द्वारा नहीं हुआ है। प्रकृतिकी स्थितियोंको मानवीय स्थितियोंके साथ प्रस्तुत करके ही यह विधान हो सका है। महावीरप्रसाद द्विवेदीसे लेकर रामचन्द्र शुक्ल तकका प्रकृतिको उद्दीपन-रूपसे स्वतन्त्र आलम्बन रूपमें अंकित करनेका आग्रह प्रकृतिको उसकी अपनी वस्तुस्थिति में देखने और अंकित करनेकी प्रस्तावनासे अधिक सिद्ध नहीं हुआ।

परन्तु हमारा साहित्य युगकी अपनी सम्भावनाओं तथा पाश्चात्य सम्पर्कके कारण जिस रोमाण्टिक आवेश (टेम्पर) को प्रारम्भमें प्रकट कर चुका था, उसको उसने इस चरणमें छोड़ दिया

हो, ऐसी बात नहीं है। रूपनारायण पाण्डेय, श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठीके काव्यमें इस रोमाण्टिक आवेशका आभास मिलता है जिसके कारण इनकी प्रकृति-सम्बन्धी दृष्टि उपर्युक्त कवियोंकी दृष्टिसे भिन्न है। इन्होंने प्रकृतिको स्वतन्त्र-रूपमें देखने के साथ ही अनेक स्थलोंपर उसके जीवन, स्पन्दन और उल्लास-को भी व्यञ्जित किया है। परन्तु इनमें प्रगीत्यात्मक भावावेशका समुचित विकास नहीं हो सका था, अतएव प्रकृति कविके लिए जीवित और प्रत्यक्ष सत्य नहीं हो सकी।

छायावादी काव्यान्दोलन भारतीय साहित्यमें व्यापक रूपसे राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा साहित्यिक परम्पराकी रूढ़ियों और बन्धनोंके प्रति पहला सचेष्ट विद्रोह माना जा सकता है। इसी कारण साहित्यके सन्दर्भमें छायावादके अन्तर्गत रोमाण्टिक भावनाका प्रथम सजग प्रवेश हुआ। भारतीय साहित्यकी परम्परामें यह और भी अधिक साहसिक चरण था, क्योंकि इस साहित्यमें यह प्रवृत्ति स्वच्छन्दताके साथ कभी व्यक्त या प्रतिष्ठित नहीं हो सकी है। प्रथम बार छायावादी कविने आत्मानुभूति और आत्म-संवेदनको अपनी अभिव्यक्तिमें सर्वाधिक महत्त्व दिया, अपनी कल्पनाको निर्बाध और अतिशय स्वच्छन्दता दी; वह स्थूल सौन्दर्यके स्थानपर सूक्ष्म सौन्दर्यबोधके प्रति आकर्षित हुआ, उसने अपने चतुर्दिक् फैले हुए जीवन और जगत्के प्रति सहज जिज्ञासा प्रकट की, जैसे उसके सामनेका समस्त जगत् व्यापक चेतनासे उद्भासित हो और वह उस सबसे प्राणवान् हो रहा हो।

इस रोमाण्टिक भाव-धाराने इस युगके काव्यमें प्रकृतिकी परकल्पनाको अत्यधिक प्रभावित किया है। इस काव्यमें प्रकृति आलम्बन मात्र नहीं है, जिसके लिए रामचन्द्र शुक्लने रीतिकालके कवियोंकी उद्दीपन-सम्बन्धी संकुचित दृष्टिकी आलोचना करते हुए ज़ोरदार आग्रह प्रकट किया था। एक स्थलपर उनकी प्रस्तावना नागरिक सभ्यताके कृत्रिम वातावरणसे प्रकृतिकी ओर वापस जाने-

की है। परन्तु उनकी प्रकृतिके आलम्बन-रूपकी स्थापना, संस्कृत-के प्रकृति-काव्यकी चर्चा तथा स्वतः उनकी कवितासे यही व्यक्त होता है कि इस रूपमें प्रकृति उनके लिए वस्तु-परक सौन्दर्य रूपमें ही आ सकी है, और अधिकसे अधिक संस्कृत काव्यके आदर्शपर वे प्रकृतिको मानवीय जीवनके निकट आत्मीय स्वजनके रूपमें देखनेके आग्रही हैं।

परन्तु छायावादी काव्यकी रोमाण्टिक प्रवृत्तिमें प्रकृतिकी उपस्थिति कविके लिए जीवित और स्पन्दित है। जिस प्रकार उसने जीवनको अनुभूति और समवेदनाके सूक्ष्म स्तरपर ग्रहण किया है, उसी प्रकार प्रकृति उसके लिए जीवनका अंग है जो अनुभव या संवेदनकी वस्तु (आलम्बन) न होकर उसका साक्षात्कार है। वह पुनः प्रकृतिकी व्यापक चेतनाका सहज और जिज्ञासु भावसे अन्वेषण करता है; उसके वस्तु-परक सौन्दर्यके परे सूक्ष्म भावगत सौन्दर्यका अनुभव करना चाहता है। वह मानवीय भावोंका, आशा-निराशा, पीड़ा-वेदना, हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, इच्छा-आकांक्षाओंका अनुभव प्रकृतिके फैले हुए जीवनके माध्यमसे करता है और अपनी कल्पनाके मुक्त और स्वच्छन्द प्रत्यक्षीकरण का क्षेत्र प्रकृतिमें खोजता है। यह प्रकृतिका जीवन न कविके जीवनके समानान्तर है, न उससे आरोपित और उत्प्रेरित हो, वह कविके जीवनसे अभिन्न हो गया है।

परन्तु इस शुद्ध रोमाण्टिक दृष्टिके अतिरिक्त इस युगके काव्यमें प्रकृतिकी परिकल्पना अन्य रूपोंमें भी है। छायावादी काव्यमें भारतीय दार्शनिक और आध्यात्मिक चिन्तनकी इस युगकी परिणतिका गहरा प्रभाव है। आधुनिक सांस्कृतिक जागरण के युगमें भारतीय विचार-धारामें नव्य-अद्वैतवाद, मानवतावाद, विश्वबन्धुत्व आदि व्यापक मूल्योंकी चर्चा हुई थी, और इस युग के काव्यमें उनकी अभिव्यक्ति भी हो सकी है। इन प्रभावोंके फलस्वरूप प्रकृतिकी सर्वचेतनावादी परिकल्पनाके साथ छायावादी

कवियोंमें प्रकृति-चेतनामें आध्यात्मिक भाव-बोध और अर्थके संकेत देनेकी प्रवृत्ति विकसित हुई है। प्रकृतिकी रोमाण्टिक दृष्टिसे यहाँ छायावादी प्रकृतिका अन्तर उपस्थित होता है जब उसकी चेतना, कल्पना और सौन्दर्यमें किसी व्यापक सत्ताका (जो प्रकृतिके अतिरिक्त है,) आभास कविको मिलता है। मध्ययुगके साधक कविने अपने आराध्यके व्यक्तित्वमें सारी प्रकृतिको, उसके रूपाकार और भाव-प्रवण सौन्दर्यको समाहित कर दिया था। छायावादी, रहस्यवादी प्रकृतिके सूक्ष्म सौन्दर्यबोधके माध्यमसे किसी अलौकिक (आध्यात्मिक) सत्ताके संकेत ढूँढ़ता है। स्वच्छन्द प्रकृतिवादीके लिए प्रकृति उसके जीवनके समान संवेद्य, अनुभूत तथा साक्षात्कृत है।

इसके अतिरिक्त यह भी नहीं है कि छायावादी कवि भारतीय परम्परासे विद्रोह करके पूर्णतः मुक्त हो सका हो। यह अवश्य है कि रीतिकालीन काव्यकी स्थूल रूपमयतासे अपनेको मुक्त करके सूक्ष्म भावोंके स्तरपर काव्यको प्रतिष्ठित करनेमें वह सफल हुआ है। परन्तु संस्कृत काव्यके जिस आदर्शकी ओर द्विवेदी युगके कवियोंका ध्यान आकर्षित किया गया था, उसका एक सीमा तक प्रभाव छायावादी कवियोंपर भी देखा जा सकता है। भारतीय साहित्य और मुख्यतः संस्कृत साहित्यमें प्रकृतिपर व्यापक रूपसे मानवीय आकार, क्रीड़ाओं तथा भावनाओंका आरोप मिलता है। इसीका ह्रासोन्मुख रूप रीतिकालके काव्यमें भी है। परन्तु छायावादी प्रकृति-काव्यमें भी इस प्रकारके आरोपकी प्रवृत्ति कम नहीं है। यह अवश्य है कि स्थूल आरोपके स्थानपर सूक्ष्म संकेतों, प्रतीकों और भावोंका आश्रय लिया गया है। इस लाक्षणिकताके कारण यह आरोपकी स्थिति बहुत प्रत्यक्ष तथा व्यक्त नहीं है। परन्तु रामचन्द्र शुक्लने इसी कारण इस काव्यमें मानवीय मधु-क्रीड़ाओंके आरोपका उल्लेख किया है। रोमाण्टिक कवि सारी प्रकृति और उसके जीवन-प्रवाहको स्वानुभूतके रूपमें ग्रहण करता है, पर इन कवियोंने ऐसे अनेक स्थलोंपर प्रकृतिको प्रतीकात्मक

शैलीमें तथा भावात्मक स्तरपर वर्ण्य विषयके रूपमें स्वीकार कर लिया है। प्रकृतिवादी दृष्टिसे भी प्रकृति मनुष्यके जीवन, भावनाओं और कभी-कभी रूपमें उपस्थित होती है, पर अन्तर मुख्यतः इसी बातका है कि उसमें आरोपका भाव न होकर स्वतः स्फुरणका भाव होता है और उसके लिए प्रकृति वर्ण्य विषय मात्र नहीं हो सकती।

वह युग हमारे राष्ट्रीय संघर्षका था। राष्ट्रीय भावना तथा विदेशी शक्तिके प्रति विद्रोहकी भावना इसमें परिव्याप्त रही है। इस कारण प्रकृति एक ओर हमारे जागरण और उत्थानकी भाव-व्यंजनाके साथ उपस्थित हुई है, राष्ट्रीय कामना, महत्त्वाकांक्षा, संघर्ष आदि भावनाओंसे प्रकृति अनुप्राणित रही है। साथ ही इस काव्यमें देशके प्राकृतिक स्वरूपकी आदर्श-कल्पना और उसका देवीकरण भी मिलता है। भारतमाताकी कल्पना इस युगकी एक व्यापक प्रकृति-परिकल्पना रही है।

छायावादी काव्यके अन्तर्गत प्रकृतिके नवीन अप्रस्तुत-विधान-की चर्चा भी अपेक्षित है। स्थूलसे सूक्ष्मकी खोजकी ओर बढ़नेमें यह नया अलंकारिक विधान और लाक्षणिक प्रयोग बहुत अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है। एक सीमा तक इस प्रकारकी व्यंजना आत्मानुभूतिके स्तर, काल्पनिक प्रत्यक्षबोध और सूक्ष्म सौन्दर्य-बोधकी सहज परिणति है, परन्तु छायावादी कवियोंने सचेष्ट शिल्पके रूपमें भी इसे विकसित किया है। जिस प्रकार मानवीय रूपाकार, क्रियाओं और परिस्थितियोंके समानान्तर प्रकृतिकी अप्रस्तुत योजना की जाती है, उसी प्रकार प्रकृतिके रूपाकार, क्रियाओं तथा परिस्थितियोंके लिए मानवीय जीवन अप्रस्तुत-विधान प्रस्तुत करता है। इसके मूलमें है दोनोंकी समानान्तरतामें रक्षित सौन्दर्यबोध। छायावादी काव्यमें बाह्य आरोपकी स्थिति महत्त्वकी नहीं रही, अतः इस प्रकारका प्रकृतिका अप्रस्तुतके रूपमें प्रयोग कम हो गया है। परन्तु इसके स्थानपर मानवीय भावनाओं,

अनुभूतियों, संवेदनाओंके लिए प्रकृतिकी विभिन्न स्थितियोंका भावगत सौन्दर्य स्वतः अप्रस्तुत हो गया है जो मानवीय भाव-सौन्दर्यके प्रस्तुतको व्यंजक करनेके लिए है। इसी प्रकार प्रकृतिकी भावगत सूक्ष्म-सौन्दर्यकी स्थितियोंके प्रस्तुत रहनेपर मानवीय भाव-सौन्दर्य अप्रस्तुत योजनाके लिए प्रयुक्त होता है। कभी-कभी छायावादी काव्यमें इस प्रकारके अप्रस्तुत-विधानमें शिल्पगत ऐसी जटिलता आ गयी है कि काव्यकी व्यञ्जना दुर्बोध और व्याख्या-परक हो गयी है।

इस युगकी परिसमाप्तिपर संक्रान्तिकालमें कुछ छायावादी कवि सामाजिक यथार्थवादके प्रभावमें आ चुके थे और उन्होंने पुनः प्रकृतिको भूमिका और वातावरणके रूपमें स्वीकार किया। कभी-कभी सामाजिक निर्माणका उल्लास और उत्साह अवश्य प्रकृतिमें व्यंजित है। दूसरे कवियोंमें व्यक्तिवादी दृष्टिका विकास हुआ जिसके परिणामस्वरूप उनमें अहं, निराशा, अराजकता, नियतिवाद आदि पाया जाता है। इसका प्रभाव इनकी प्रकृतिकी परिकल्पनापर भी पड़ा है। इनकी प्रकृति इनकी भावनाओंसे अनुप्राणित है, उसमें नियतिकी अनिवार्यता, अराजक उच्छृङ्खलता, निराशाकी विशृंखलता मिलेगी।

इस संक्रान्तिकी स्थितिमें, जिससे प्रगति-प्रयोग युगकी भूमिका तैयार हुई है, एक भाव-धारा नव्य-स्वच्छन्दवादकी भी है जिसका विकास आगे चलकर गीतकारोंमें और कुछ प्रयोगशील कवियोंमें भिन्न-भिन्न स्तरोंपर देखा जा सकता है। छायावादके कवियोंमें जीवनको सीधे झेलनेका साहस नहीं था, परन्तु इन कवियोंमें मुक्तिका गहरा वातावरण मिलता है, उनमें मौज और मस्ती है तथा अपने सुख-दुःख, आशा-निराशाको सीधे अभिव्यक्त करनेका उत्साह तथा साहस है। उन्होंने प्रकृतिको इसी कारण अपनी मनः-स्थितिके अनुकूल अनुभव किया है। जीवनकी गहरी आकांक्षा और ऐन्द्रिय सौन्दर्य-बोधकी आकुलता इनकी प्रकृतिमें प्रतिध्वनित है।

प्रयोगशील युगमें कविका जीवन और जगत्‌के प्रति यथार्थ-दृष्टिका आग्रह बढ़ा है। प्रकृतिके प्रति आजके कविकी दृष्टि असम्पृक्त यथार्थकी है। युग-यथार्थकी सम्पृक्तिके कारण वह प्रकृतिके समस्त सौन्दर्य-विस्तारमें रोमांटिक भावके स्थानपर परिस्थितिके व्यंग्यको अन्ततः ग्रहण करता है। रोमांटिक कवि काल्पनिक प्रत्यक्षीकरणके माध्यमसे आत्मानुभवके लम्बे क्रममें जीता है। जिस प्रकार वस्तुओंकी स्थिति-परिस्थितियोंका एक शृंखलाक्रम होता है, बाह्य घटनाएँ जीवनको एक क्रममें संचालित करती हैं, उसी प्रकार रोमांटिक कवि जीवनकी आन्तरिक अनुभूति और भावशीलताको एक क्रममें ग्रहण करता है। आजका कवि जीवनको इतनी संगठित योजना और सार्थक संगतिके रूपमें नहीं देखता। वह प्रत्येक क्षणको जीता है, प्रत्येक स्थितिको संवेदित करता है। उसके लिए यह क्षणका जीना, स्थितिका संवेदन ही यथार्थ अनुभूत है। संगति, व्यवस्था और क्रम जीने और भोगने वालेकी दृष्टि नहीं हो सकती है, वह तो जीवनको केवल इतिहास माननेका परिणाम है। यही कारण है कि जिस प्रकार वह अपने अनुभूतको अपना सर्जन मानता है, उसी प्रकार वह वस्तु और परिस्थितिके प्रति असम्पृक्त भी रहनेमें समर्थ होता है।

आधुनिक कविके लिए प्रकृति उसके अनुभूत क्षणका अंग बनकर उपस्थित होती है। अनुभूत होकर भी प्रकृति उसके लिए अन्ततः वस्तु-तत्त्व ही है, क्योंकि इतिहासके क्रम, व्यवस्था और सार्थकताके अभावमें रोमांटिक भावावेशके साथ वह प्रकृतिका साक्षात्कार नहीं करता। आजके काव्यमें प्रकृति उल्लास, आवेग, उत्साह, प्रेमाकुलता तथा जिज्ञासा आदिके मनोभावोंमें स्पन्दित और स्फुरित प्रस्तुत नहीं होती। प्रायः कवि प्रकृतिके संवेदनको अपने व्यक्तित्वके प्रसारमें समाहित कर लेता है, और अपने व्यक्तित्वके सामाजिक परिवेशकी अनेक विषम परिस्थितियोंके व्यंग्यको उसमें व्यंजित करता है। अनेक कवि नव्य-स्वच्छन्दवादी

भाव-धारासे प्रभावित हैं और वे प्रकृतिके सम्पर्कमें रोमांटिक मनो-भावोंसे, उसके ऐन्द्रिय सौन्दर्य और काल्पनिक प्रत्यक्षीकरणसे आन्दोलित होते हैं। पर उनपर भी आधुनिकताका गहरा प्रभाव इस सीमा तक है कि वे इस भावावेगको स्वतः एक स्थितिके रूपमें अपनेसे असम्पृक्त कर लेते हैं या अन्ततः वस्तुनिष्ठ दृष्टिसे प्रकृतिमें जीवनका व्यंग्य उभारनेमें समर्थ होते हैं।

छायावादी काव्यमें प्रकृतिके सौन्दर्यबोधके अप्रस्तुत-विधानकी जटिलताका संकेत किया गया है। नये कविकी प्रमुख शैली क्षणके अनुभव और वस्तु-स्थितिके प्रभाव-ग्रहणकी है। वह प्रकृतिके व्यापक विस्तारको सामाजिक और व्यक्तिगत जीवनमें एक साथ ग्रहण करता है। खंड-खंडमें बिखरे हुए चित्रों और अनुभूतियोंके कारण प्रकृति-रूपकी विशृंखलता और भाव-बोधकी उलझन बढ़ जाती है। परन्तु खंडोंमें बिखरे हुए जान पड़नेवाले चित्र और संवेदन कविके लिए एक ही सर्जनात्मक अनुभूत सत्य है, और उसके सर्जनमें सक्रिय सहयोगी पाठकके लिए भी सबका प्रभाव एक मार्मिक व्यंजनाके रूपमें है। प्रकृतिमें यह व्यंग्य विचित्र और असंगत लगनेवाले अप्रस्तुतोंके (सामाजिक यथार्थसे लिये गये) द्वारा किया गया है।

काव्यमें प्रकृतिकी इस आधुनिक परिकल्पनाके कारण कवि उसके सौन्दर्य और सहचरणका उपयोग मुक्त भावसे नहीं कर पाता। जैसा कहा गया है, जिन कवियोंका रोमांटिक मनोभाव है उन्हें प्रकृति अपने प्रति आकर्षित करती है, पर उनमें आजकी मनःस्थिति यह सारा रस-बोध द्विविधा और उदासीमें बदल देती है। कभी यह आकर्षण शुद्ध मनःस्थितिके स्तरपर प्रकृति और कविका सहसंवेदन रह जाता है जो प्रकृतिके बिम्ब-चित्रों अथवा प्रभाव-चित्रोंमें व्यंजित होता है। कुछ कवियोंके प्रकृतिके सह-संवेदन सम्बन्धी प्रभाव-चित्रों और बिम्ब-चित्रोंमें मुक्तिके क्षणों

की मनःस्थितिमें प्रकृति-सहचरणका मनोभाव और सौन्दर्य-बोध अपनी विश्रृंखलतामें अधिक संवेदनशील हो सका है।

आजका कवि आत्मानुभूतके स्थानपर अपने समस्त अस्तित्वके अनुभूत-उपलब्धको सम्प्रेषित करता है, अतः उसकी सौन्दर्य दृष्टि और भाव-बोध इतने व्यापक सन्दर्भमें प्रस्तुत होते हैं कि उसमें रोमांटिक व्यक्तिगत सीमाओंका अतिक्रमण हो जाना सहज है। इसके साथ ही मनःस्थितियोंके बदलते हुए रूपोंके साथ एक ही भावकी क्रमिकता नहीं बनी रह पाती, अनेक मानसिक संवेदनाएँ एक दूसरेसे उलझ जाती हैं। यही कारण है कि व्यक्तित्वकी समग्रतामें प्रकृति प्रेम, और सौन्दर्यके भिन्न स्तर ग्रहण कर लेती है, कविकी अस्तित्वको उपलब्ध करनेकी आकांक्षामें उसकी सारी व्यंजना बदल जाती है।

आजके काव्यमें प्रकृतिका (इसी प्रकार किसी भी स्थितिका) वर्णन उसके जीवन और संवेदनके साथ नहीं है और न उससे ग्रहण की हुई अनुभूतियोंकी अभिव्यक्ति ही है। कवि जीवन और अस्तित्वके प्रसारमें प्रकृतिको अपने अनुभूत क्षणमें प्रेषणीय बनाता है। इसी कारण वह चित्रणके स्थानपर प्रभाव-चित्रों और बिम्ब-चित्रोंका सर्जन करता है जिनमें उसकी संवेदनाके साथ बाह्य प्रकृति एकरूप हो जाती है। इस प्रकृतिकी परिकल्पनाकी सीमा बहुत विस्तृत है। कहीं प्रकृतिका यह अंकन दृश्य-विधान मात्र प्रस्तुत करता है और उसका अनलंकरण अथवा नयी अप्रस्तुत-योजना नयी काव्य-रुचिके अनुकूल पड़ती है। इस प्रकारके सहज दृश्य-विधानमें कविके आन्तरिक संवेदनकी गहराईकी एक झलक मिलती है। परन्तु नयी कविताकी मौलिक प्रवृत्तिमें दृश्य-विधान एक ओर असम्पृक्त वस्तु-परक खण्ड-चित्रोंमें उपस्थित होता है, और दूसरी ओर उसीके साथ भावात्मक संवेदन की मनःस्थितियाँ भी व्यंजित होती हैं। विविधताके साथ कवितामें प्रभावकी समग्रता

बनी रहती है और जीवनकी गहन व्यंजना अन्तर्निहित हो जाती है।

कभी आजका कवि प्रकृति और भावस्थितिको एक ही विम्ब-रूपमें ग्रहण करता है। रोमांटिक काव्यमें प्रकृति कविके लिए कितनी ही व्यक्तिगत अनुभूतिका विषय हो, वह उसके चेतन अस्तित्वका अभिन्न अंग नहीं हो पाती, यद्यपि कवि प्रकृतिके प्रति गहरी सम्पृक्तिका अनुभव करता है। नयी कविताके प्रभावात्मक विम्ब-विधानमें प्रकृतिका दृश्य-रूप और प्रकृतिकी चेतना एक ही स्तरपर एक ही संवेदन-विम्बमें अन्तर्मुक्त होती जाती हैं। इस प्रकारके विम्ब-चित्रोंमें रूपात्मक अंकनकी कभी पूर्णता रहती है और सहज जीवनकी व्यंजना अवैयक्तिक रूपसे सन्निहित भी रहती है। कवि स्वयं अभिव्यक्तिमें उपभोक्ता रूपमें प्रस्तुत न होकर अपनी अनुभूत उपलब्धिको असम्पृक्त भावसे प्रेषणीय बनाता है, इसे अवैयक्तिक कहा गया है।

प्रकृतिके सहज रूपात्मक चित्रोंमें कवि केवल दृश्य-विधान नहीं करता, वरन् अपने आपको कहीं किसी स्तरपर व्यक्त करना चाहता है। सहज और परम्परागत उपमानोंके स्थानपर जब अपरिचित तथा नये उपमान या रूपक प्रयुक्त होते हैं तो विम्ब-विधान अपने वैचित्र्यमें अधिक व्यंग्यपूर्ण हो जाता है। जीवनके व्यापक सन्दर्भमें विम्ब-चित्रोंमें संवेदनकी अधिक गहराई और अर्थ की मार्मिक व्यंजना आ जाती है। अनेक स्थलों पर प्रकृतिके साथ कविकी भावात्मक उपलब्धिका असम्पृक्त अंकन है जिनमें कवि सारे प्रकृति-दृश्यको आत्मोपलब्धिके रूपमें स्वीकार करता है, वह दृश्यबोधके साथ कुछ क्षणोंके लिए प्रकृति-चेतनासे जैसे अभिन्न हो गया हो। व्यापक रूपसे आजका कवि न प्रकृतिके साथ सहचरण कर पाता है और न उसके सौन्दर्यका उपयोग करता है, क्योंकि उसके अभिभूत करनेवाले सौन्दर्यके सम्मुख कविको, वेदनाशून्य

मनकी तर्कातीत स्वीकारनेकी मनःस्थितिसे सिहरकर कहना होता है—'नहीं, फिर आना नहीं होगा।'

प्रकृतिके भावमय और आत्मलीन बिम्ब-चित्र प्रस्तुत कर अपनी अनुभूतिके भावोद्रेकमें कवि अविभूत होता है, और जो उसकी मनःस्थिति पहले प्रकृति-बिम्बमें समाहित थी, वही प्रत्यक्ष हो जाती है। प्रारम्भिक बिम्बोंमें प्रकृति निरपेक्ष लगती है, पर अन्ततः कविकी मनःस्थिति ऐसे चित्रकी भाव-व्यंजनामें प्रतिघटित हो जाती है। आजके कवियोंके कुछ बिम्ब-चित्रोंमें कल्पनाकी इतनी पूर्णता और शिल्प-विधान (अप्रस्तुत-योजना) का इतना अच्छा निर्वाह भी मिलता है कि अपने कलात्मक कौशलके कारण वे आधुनिक बिम्ब-विधानसे अलग पड़ जाते हैं। अनेक बार प्रभावात्मक बिम्ब-ग्रहणमें चित्र-खण्डोंके स्वतन्त्र-संयोग, बदलती हुई मनःस्थितियों, और नयी प्रकारकी अप्रस्तुत-योजनाके कारण वैचित्र्यका आग्रह जान पड़ता है। यह वैचित्र्य, नयी कविताकी मौलिक प्रवृत्तिमें, अपनी विशिष्ट स्थितिके कारण है। इस प्रकृति-चित्रोंके वैचित्र्यके माध्यमसे कवि.मनःस्थितिकी जटिलता, उलझन, युग-जीवनकी विषमता तथा अपनी वैयक्तिक अनुभूतिको व्यंजित करनेका ही प्रयत्न करता है।

अति आधुनिक कला (चित्रकला) के समान काव्यमें प्रकृतिके प्रत्यक्ष रंग-रूप, स्थिति-परिस्थिति, क्रिया-संचरण, क्रम-योजना आदि महत्त्वहीन हो गये हैं। उनकी संश्लिष्टताका उसके लिए कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि आज प्रकृतिके विषयमें हमारी समझ वैज्ञानिक होती जा रही है, हम उसके रहस्यको गहनताके साथ उद्भासित करते जा रहे हैं। वह यह भी जानता है कि हमारे लिए प्रकृतिका जो यथार्थ-रूप है, हमारे अपने मानवीय शरीर और मस्तिष्ककी प्रस्तुत संघटनाकी सीमाओंके कारण है। यदि हमारे शरीरकी, इन्द्रियों और मस्तिष्ककी बनावट भिन्न होती तो हमारे प्रत्यक्ष-बोधका यथार्थ भी भिन्न होता। अतः कवि

और कलाकार अपने सर्जनमें रचना-विधानकी ऐसी संगतियाँ ढूँढ़नेका उपक्रम कर रहा है जिनमें प्रकृतिके यथार्थकी समता या भिन्नता उसके लिए महत्त्वहीन हो चुकी है। आजके अति आधुनिक प्रकृति-चित्रों और प्रकृति-काव्यमें इसी कारण नये रूपाकारों, स्थितियों और योजनाका विधान मिलता है। और उनको वह इस न्यूनोक्ति (अण्डर-स्टेटमेंट) की स्थितिमें रखता है कि पाठक या दर्शक उसके अनुभवके सहभोगमें पूरी मुक्तिका अनुभव करता रहे।

भारतभूषण अग्रवाल

प्रकृति-चित्रण : पन्त

अपनी कविता : 'जन्म दिवस' ('अतिमा') में पन्तने अपने जन्मकालका उल्लेख करते हुए लिखा है :

गत युग के ऐश्वर्य चिह्न-से, मधु के अन्तिम
ताम्र-हरित कुछ पल्लव, कुछ कलि-कोरक स्वर्णिम
जाड़े से ठिठुरे, डालों पर बिलमाये थे,
रजत-कुहा से पट में लिपटे अलसाये थे,—
धरती पर जब शिशु ने पहले आँखें खोली !
(आँगन के तरु पर तब क्या गिरि-कोयल बोली ?)

कविका यह अनुमान सहज सत्य है; पन्तकी काव्य-भूमिमें गिरि-कोयलकी बोली हमें निरन्तर गूँजती मिलती है। नाना भाव-भूमियोंको, नाना अनुभूति-प्रसंगोंको और नाना युग-कालोंको पार करती गिरि-कोयलकी वह 'स्वर्ण-जाल-सी तान' हिन्दी-मानसके 'तुहिन-वन' में आज भी छायी हुई है। प्रकृतिसे साहचर्य और निसर्गसे तादात्म्य कवि पन्तके व्यक्तित्वकी प्रमुख विशेषता है।

उनके व्यक्तित्वकी इस विशेषतामें देश-काल-परिस्थिति—तीनोंने भर-पूर योग दिया है। हिमालयका सुषमा-मण्डित अंचल, नवयुगकी स्वप्न-कल्पनाओंको सजीव करनेको उत्सुक विद्रोही यौवन, और मातृहीन भाव-प्रवण हृदयका एकान्त परिवेश। उस छोटी-सी पहाड़ी बस्तीका वह एकाकी मन प्रकृतिको ही अपना सखा, अपना संगी मानता था। पहाड़ी झरनेसे वह बातें करता, विहगोंसे गीत सीखता, भौरोंके साथ 'कुसुमके चुने कटोरों' से मधु-पान करता।* पन्तके भाव-जीवनका अभिन्न अंग होनेके

* देखिए 'वाणी' संग्रहमें 'आत्मिका' शीर्षक कविता।

कारण ही उनकी कवितामें प्रकृति एक निराले सर्व-व्यापी रूपमें उपस्थित है, हिन्दीके लिए ही नहीं, समस्त भारतीय वाङ्मयके लिए वह अभूतपूर्व घटना है। प्रकृति-चित्रण पहले भी अनेक कवियोंने किया था, उनके बाद भी अनेक कवियोंने किया, और आलम्बन, उद्दीपन, प्रतिबिम्बन आदि सभी प्रणालियोंके प्रयोग प्रचुर मात्रामें हो चुके थे और हुए, पर पन्तका प्रकृति-चित्रण अद्वितीय है, क्योंकि उनके रूपमें मानो :

स्वयं, लो, प्रकृति बोलती आज
विदा कर अपना चिर-व्रत मौन !

[बच्चन]

यही कारण है कि पन्तकी रचनाओंका पाठ करते समय हमें ऐसा नहीं लगता कि हम अपने कमरेमें बैठे प्रकृतिकी चर्चा कर रहे हों—जैसा कि द्विवेदी-कालीन कविताको पढ़ते समय लगता है—न यह लगता है कि हम अपने वातायनसे प्रकृतिके दृश्य देख रहे हों—जैसा कि अन्य छायावादी रचनाओंको पढ़कर लगता है। उनके काव्यका अनुशीलन किसी ऐन्द्रजालिक प्रक्रियासे हमारे कक्षकी दीवारोंको विलीन कर देता है, हम सहसा हरियालीके क्रोड़में पहुँच जाते हैं जहाँ हमारे चरणोंके तले नरम घास है, चारों ओर पक्षियोंकी चहचहाहट और भौरोंकी गुञ्जार है, और दूरसे आती पहाड़ी निर्झरकी 'टल-मल' हमारे प्राणोंमें भर गयी है। प्राकृतिक दृश्यों और व्यापारोंका ऐसा अनोखा अनुभावन और फिर उनका ऐसा सफल अनुप्रेषण हमें विस्मयसे भर जाता है—हमें लगता है मानो हमने पहली बार उषाके दर्शन किये हों, पहली बार कोयलको कूकते सुना हो, पहली बार आम्र-बौरकी गन्ध पी हो। 'पल्लव'-काल तककी रचनाओंमें प्रकृतिका ऐसा ही प्रत्यक्ष, मूर्त्त और अभिनव परिवेशन है। भावुक पार्वत्य-किशोरने अपनी समस्त आकांक्षाओं और अभावानुभूतियोंको उस रमणीक प्राकृतिक सौन्दर्यपर न्यौछावर कर दिया था, और विनिमयमें

प्रकृतिके प्राणोंका स्पन्दन-गीत और वन-श्रीके प्रफुल्ल प्राणोंकी मुसकान पायी थी। 'वीणा' की कवितामें प्रकृतिके प्रति पन्तका यही सरल मुग्ध, धन्य भाव ध्वनित है।

प्राकृतिक सौन्दर्यकी ऐसी समग्र छवि ही कविको विनत होकर तद्गत होनेकी प्रेरणा देती है, उसकी वाणीकी नारी-भावना उसके सरल सहज समर्पणको रेखांकित करती है। अन्धकारसे वह 'रंग रहित होकर छिप रहने' की कला सीखना चाहता है, छायासे शीतल आश्रय माँगता है, बाल-विहंगिनि और मधुप-कुमारिसे वह सहचरकी भाँति संलाप करता है। तृण-तरु-निर्झरकी भाँति वह अपने आपको उसी परिवेशका अभिन्न अंग मानता है, इसीलिए वह 'विश्वसृज' से 'यौवनके प्याले' में फिरसे 'जीवनकी तुलनाका उपक्रम' भर देनेकी प्रार्थना करता है, और नारीके सहज आकर्षणका प्रतिषेध करता है :

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन?
भूल अभी से इस जग को!

'मोह' शीर्षक इस कविता तक, जिसका रचना-काल सन् १९१८ है, प्रकृतिसे किशोर कविका जो एकान्त सम्पर्क है उसका आरण्यक स्वरूप विस्मय और उल्लाससे निर्मित है। अभी उसमें न तो परवर्ती वेदनाका पुट आया है; और न परवर्ती कल्पनाका। नारीके सहज आकर्षणका निषेध ही 'ग्रन्थि' के क्रन्दनको जन्म देता है, और 'पल्लव' की कल्पना-पूरित वेदनाकी भूमि तैयार करता है। 'सरल शैशवकी सुधि-सी' बालिका-मित्रको खोकर वह मानो अचानक प्रकृति-परेके जीवनका पहला आस्वाद पाता है, और यह कटु आस्वाद उसके 'गुञ्जन' काल तककी रचनाओंको करुणा-प्लावित कर देता है। 'पल्लव' में तो यह करुणा प्लवनका ही रूप धारण कर लेती है। प्रकृतिके क्रोड़में बैठा होकर भी

कवि अब केवल अश्रु-भरे नयनोंसे ही उन हृदयोंको देख पाता है जिन्हें पहले निश्छल मुग्ध भावसे देखता था, और विच्छेद-व्यथाके कारण अब वह फूलों-झरनों-बादलोंमें प्रियाकी झलक पाना चाहता है :

देखता हूँ जब पतला
इन्द्रधनुषी हलका
रेशमी घूँघट बादल का
खोलती है कुमुद-कला
तुम्हारे ही मुख का तो ध्यान
मुझे करता तब अन्तर्धान
न जाने तुमसे मेरे प्राण
चाहते क्या आदान ।

[—'आँसू']

प्रकृतिके प्रति यह 'पहुँच' हमारे लिए चिर-परिचित है, पर कवि पन्तके लिए वह नयी है। साथ ही कवि इस तक काव्य-परम्पराके सोपानोंसे नहीं, 'मर्म-पीडा' की डगरसे आया है इसीलिए उसमें आरण्यक गुण कम नहीं हुआ है।

वास्तवमें 'वीणा' और 'पल्लव' के बीचके दो वर्ष अपनी छोटी-सी परिधिमें कवि पन्तके लिए एक सम्पूर्ण युग-परिवर्तन समेटे हुए हैं और इसलिए उनपर कुछ ठहरकर विचार कर लेना आवश्यक लगता है। मेरे मनमें 'वीणा' और 'पल्लव' में कविका दृष्टि-भेद उसके समूचे परवर्ती काव्यकी कुंजी है, उसमें कविके भोक्तासे दर्शक—और फिर बादमें द्रष्टा—बन जानेका रहस्य छिपा हुआ है। 'वीणा' का काल हमें कालिदासकी शकुन्तलाकी याद दिलाता है, उस शकुन्तलाकी जिसने अभी दुष्यन्तका नाम भी नहीं जाना, तनकी वासनाने जिसके मनको अभी विकलता नहीं दी। वह मन अभी प्रकृतिके मन्दिरका निर्माल्य है, और उसीमें कविको चरम परितोष दीखता है। पर 'पल्लव' तक आते-आते

किशोर नवयुवक हो उठता है, उसके लोचन 'बाला' के 'बाल-जाल' में उलझकर अश्रु-सिक्त हो गये हैं, वह अब प्रकृतिको देखता है तो समस्त दृश्यावलीपर जैसे आँसुओंकी एक झीनी चादर फैल चुकी है—'वीणा' के स्नात रूपसे 'पल्लव' के वाष्पावृत रूपका यह भेद बरबस हमारा ध्यान खींचता है। 'वीणा' में कवि अपनेको एक विहग-कुमार ही मानता था :

है स्वर्ण-नीड़ मेरा भी जग-उपवन में
मैं खग-सा फिरता नीरव भाव-गगन में

पर 'पल्लव' में यह आवेग-मुक्त आश्वस्ति नहीं है, उसमें उमड़न है वर्षा-कीसी। और कवि उस वर्षाको पक्षी बनकर नहीं भोगता, बादल बनकर बहा देता है :

मेरा पावस - ऋतु - सा जीवन,
मानस-सा उमड़ा अपार मन,
गहरे धुँधले, धुले, साँवले
मेघों-से मेरे भरे नयन !

[—'आँसू']

'वीणा' में कवि गाने चुगता था, अब उसकी आँखोंसे चुपचाप कविता अनजान उमड़कर बही जाती है।

इस दृष्टि-भेदका कारण नारी है, वह नारी जो सरल बालिका है, जो गिरि-पर्वतको 'बादल-घर' कहती है, जिसके स्पर्शमें 'गंगा-स्नान' की पवित्रता है, जिसके उरमें उषाका आवास है, स्वभावमें चाँदनीका। उसके नख-शिखमें, रूप-व्यक्तित्वमें प्रकृति बसी हुई है, तभी तो वह किशोर कविके लिए 'मन्द-हास-सा उसके मृदु अधरोंपर मँडराने' की प्रेरणा बन जाती है। इस अनायास प्रणय-विकासमें भी वही एकान्त निश्छल गति है जो शकुन्तलाके लिए दुष्यन्तपर न्यौछावर होनेकी प्रेरणा बनी थी। और ठीक शकुन्तला-की ही भाँति सन्देह उनके विच्छेदका कारण बनता है; कविने 'ग्रन्थि' में इस प्रसंगको मार्मिक कथाका रूप दिया है, यद्यपि

प्रबन्ध-परम्पराका निर्वाह करनेके प्रयत्नमें कवि अपने प्रति पूरा न्याय नहीं कर पाया है। 'ग्रन्थि' का यही प्रसंग 'वीणा' के भोक्ताको 'पल्लव' का दर्शक बना देता है, प्रकृतिसे उसके एकात्म-भावको सदाके लिए समाप्त कर देता है। कवि अपनी विरह-वेदनाके कारण प्रकृतिका और अपना भेद पहचान लेता है, यद्यपि यह पहचान कम वेदनापूर्ण नहीं है :

> शैवलिनि ! जाओ, मिलो तुम सिन्धु से,
> अनिल ! आलिंगन करो तुम गगन का,
> चन्द्रिके ! चूमो तरंगों के अधर—
> उडुगणो ! गाओ पवन-वीणा बजा !
> पर, हृदय ! सब भाँति तू कंगाल है,
> उठ किसी निर्जन विपिन में बैठ कर
> अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी
> भग्न भावी को डुबो दे आँख-सी !

'पल्लव' के दर्शक-कविकी आँखें अश्रुओंकी इसी बाढ़में डूबी हुई हैं, प्रकृतिके दृश्योंका वर्णन अब एक वेदनासे—गहरी, तीखी, वेदनासे—रँग उठता है, कलियोंमें उसे कोमल घाव खुलते दिखाई देते हैं। जब 'भादोंकी भरन' मन्द पड़ जाती है और 'उच्छ्वास' धीमा हो जाता है, तब कवि मानो बीचके इस अल्प-कालिक प्रसंगको भुलाकर फिरसे प्रकृतिके क्रोड़में लौटना चाहता है। पर यौवनका पहला कटु अनुभव उसे परिपक्व बना चुका है, फूलका फिर कली बनना प्राकृतिक नियमोंसे भी असम्भव है। इसीलिए कवि अब एक नयी ललकसे प्राकृतिक अवयवोंका दर्शन करता है, परिपक्व कल्पनासे उनमें वह रस पाना चाहता है जो उसने अपने 'बालापन' में सहज ही भोगा था और जो अब उसे सदाके लिए अलभ्य हो गया है। शकुन्तलाको कण्वाश्रम लौट जाना सम्भव नहीं होता। प्रकृतिसे यह अनिवार्य अलगाव उसको बार-बार

प्रकृतिकी ओर खींचता है, 'मौन निमन्त्रण' देता है; और कवि एक तो उस आकर्षणसे बँधा होनेके कारण और दूसरे अपनी मर्म-व्यथाके शमनके लिए प्रकृतिकी चित्रावली सजाने लगता है। 'पल्लव' के ये चित्र हिन्दी काव्यमें नयी उपलब्धि बनकर आये थे क्योंकि प्रकृतिके अद्वितीय दर्शक होनेके नाते एक ओर उनमें कविकी अनियारी दृष्टिका निर्मल स्पर्श था, दूसरी ओर वियोगीके उद्गार होनेके कारण उनमें विकलताकी बाँकी गति थी। उनमेंसे कुछ तो साहित्यमें अपना स्थायी स्थान बना चुके हैं। यथा, गिरि-पावसका यह चित्र अविस्मरणीय है :

पावस ऋतु थी, पर्वत प्रदेश;
पल-पल परिवर्तित प्रकृति-वेश !
मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार-बार
नीचे जल में निज महाकार;
—जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण-सा फैला है विशाल !
गिरि का गौरव गाकर झर्-झर्
मद से नस-नस उत्तेजित कर
मोती की लड़ियों से सुन्दर
झरते हैं झाग-भरे निर्झर !
गिरिवर के उर से उठ-उठकर
उच्चाकांक्षाओं के तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर,
अनिमेष, अटल, कुछ चिन्ता पर !

—उड़ गया अचानक, लो, भूधर
फड़का अपार वारिद के पर !

रव-शेष रह गये हैं निर्झर—
है टूट पड़ा भू पर अम्बर !

[—'उच्छ्वास']

शास्त्रीय दृष्टिसे भी प्रकृति-वर्णनका यह सफल प्रयास काफ़ी महत्त्व प्राप्त कर चुका है, इतनी पंक्तियों तक एक ही अन्त्यानुप्रासका निर्वाह वर्षाकी झड़ीका शब्द-चित्र बन जाता है।

शब्द—नाद—के और भी कई अभिनव चित्र इस कालमें कविने दिये हैं—सबमें कविका सूक्ष्म पर्यवेक्षण और कुशल शिल्प है। एक उदाहरण :

पपीहों की वह पीन पुकार,
निर्झरों की भारी झर्-झर्;
झींगुरों की झीनी झनकार
घनों की गुरु गम्भीर घहर;
बिन्दुओं की छनती छनकार
दादुरों के वे दुहरे स्वर;
हृदय हरते थे विविध प्रकार
शैल-पावस के प्रश्नोत्तर !

[—'आँसू']

इतनी कुशल चित्र-योजनाके उपरान्त, अन्तिम दो पंक्तियाँ 'वीणा' की भावनासे कितनी भिन्न हैं ! वे कविकी अन्यमनस्कता और प्रकृतिसे अलगावकी अनिच्छित प्रमाण हैं। सच बात तो यह है कि 'पल्लव' में बहुत-सी ऐसी रचनाएँ हैं जो कविकी 'मूक-व्यथाका मुखर भुलाव' ही हैं—या तो हमें उनकी ओटमें बहने-वाली आँसुओंकी अन्तर्धाराकी झिलमिल दीखती रहती है, या फिर कविका वह आयास प्रकट हो जाता है जिसके सहारे वह अपनी व्यथा भूलकर बाह्य प्रकृतिके दर्शन करता है। इस दर्शनमें प्रयास स्पष्ट है; यह और बात है कि कविके उत्कृष्ट शिल्पके कारण इन रचनाओंका दान भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन जाता है। 'बादल'

'निर्झर', 'विश्ववेणु', 'वीचि-विलास', 'अनंग'—ये सभी रचनाएँ इसकी साक्षी हैं। इनमें बड़ी सजीव और मनोहारिणी कल्पनाके सहारे प्रकृतिको नाना कोणोंसे देखा गया है, पर वे मानो किसी अधिक तीव्र वेदनासे बचनेका ही प्रयत्न हैं। निस्सन्देह ये रचनाएँ छायावादकी अमूल्य निधि हैं, पर उनका प्रकृति-वर्णन कभी आरोपणकी सीमातक जा पहुँचता है, तो कभी तटस्थताकी। मानस को आप्लावित करनेवाला वह गुण उनमें नहीं है जो 'उच्छ्वास' का प्राण है।

और 'परिवर्तन' में तो कवि दर्शकसे भी एक क़दम आगे आकर दार्शनिक बन जाता है। अब वह प्राकृतिक सौन्दर्यमें सायास लीन रहकर अपनी व्यथाको भुलानेकी अपेक्षा उससे जूझना चाहता है; सौन्दर्य, प्रणय, वेदना, सुख, सबके अन्तरतम रहस्यसे दो-चार होना चाहता है। दर्शनकी पहली कड़ीके रूपमें उसके हाथ दृश्य जगत्की नश्वरता लगती है। एकाएक विश्वास नहीं होता कि प्रकृतिकी सूक्ष्मसे-सूक्ष्म चितवनपर मुग्ध होकर समर्पित हो उठनेवाला कवि ही कह रहा है कि :

वही मधु-ऋतु की गुंजित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार
अकिंचनता में निज तत्काल
सिहर उठती—जीवन है भार !
आज पावस-नद के उद्गार
काल के बनते चिह्न कराल;
प्रात का सोने का संसार
जला देती सन्ध्या की ज्वाल !

... ...

गूँजते हैं सब के दिन चार,
सभी फिर हाहाकार !

'परिवर्त्तन' बड़ी लम्बी और पुष्ट कविता है और उसमें कविके प्रथम दार्शनिक प्रयत्न हैं जो सौन्दर्यसे प्राप्त वेदनाकी संगति खोजनेके फल हैं। सौन्दर्यमें प्राकृतिक सौन्दर्य भी सम्मिलित है क्योंकि वेदनाकी राह कवि उसकी नश्वरतापर भी पहुँच चुका है। और नश्वरताका यह प्रश्न जीवन और समाजके सारे प्रश्नोंको अपनेमें समोकर कविको एक विराट् दृष्टि और मंगल-चेतना देता है। 'परिवर्त्तन' में यह मंगल-चेतना सूत्र रूपमें ही है। कविका मानसिक विस्फोट अभी शान्त नहीं हुआ है—पर 'गुंजन' की रचनाओंमें हमें उसके शान्त, स्निग्ध रूपके दर्शन होते हैं।

इसीलिए 'गुंजन' का प्रकृति-चित्रण कविके अबतकके प्रकृति-चित्रणसे स्वर और स्तर दोनों दृष्टियोंसे भिन्न और नवीन प्रकारका है। यदि हमें यह सूचना दूसरे स्रोतोंसे न भी मिली होती तो हम 'गुंजन' की रचनाओंके आधारपर ही यह कह सकते कि कवि अब गिरि-शैलोंसे शाद्वल-मण्डित मैदानोंमें उतर आया है, उसके स्वरमें अब पहाड़ी निर्झरका आवेग और संघर्ष नहीं है, गंगाकी मन्द मन्थर सहज तरल गति है और प्रकृतिके उन दृश्यों को वह पहली बार देख रहा है जो गिरि-उपत्यकामें विरल थे। 'पल्लव' तककी रचनाओंमें वर्षा और पक्षियोंका बाहुल्य है, 'गुंजन' से फूलों और भौंरोंका बाहुल्य प्रारम्भ होता है। 'गुंजन'से लेकर 'ग्राम्या' तक कविका मन्थन-काल है; जिन आवेग-विस्फोटों से होकर वह आगे निकल आया है, उन्हें वह व्यर्थ नहीं जाने देना चाहता, उनसे निष्कर्ष निकाल कर अपने जीवनको समग्र जीवनके परिप्रेक्ष्यसे अधिक संगत और पूर्ण बनानेको आतुर है। 'गुंजन' की प्रेयसीमें यदि अपेक्षाकृत कम वायवीयता और अधिक पार्थिवता है तो वह न तो आकस्मिक है न अज्ञात। कवि अपने चिन्तनके फलस्वरूप उस ओर आया है। इसी प्रकार प्रकृति-चित्रणमें भी 'उन्मन गुंजन' की प्रधानता नयी है। ग्रीष्म, शीत या वर्षा उसकी प्रतिनिधि ऋतुएँ नहीं हैं, वसन्तकी हल्की, मद्धिम

धूप और शरद्की निर्मल नरम चाँदनी उसमें सर्वत्र व्याप्त है। आवेगोपरान्त कविमें रिक्तता नहीं; एक सीमित भराव है। 'पल्लव' में वर्षाकी बाढ़ोंसे उमड़कर जो भाव-नदी कूल-कगारोंको डुबाती फूट निकली थी, वह अब 'गुंजन' में बाढ़ उतर जानेपर अपनी मर्यादाको पुनः स्वीकार कर सौम्य धीर गतिसे बहती मिलती है। इसी कारण 'गुंजन' में उपलब्ध प्रकृति-चित्र अधिक मोहक और अधिक वस्तुगत हैं। अब कवि प्रकृतिपर अपने भावोंका आरोप कम करता है, प्रकृति-दर्शनसे अपने भावोंका मज्जन अधिक :

> तरुण विटपों से लिपट सुजात
> सिहरतीं लतिका मुकुलित गात,
> सिहरतीं रह-रह सुख से, प्राण !
> लोम लतिका बन कोमल गात !
>
> ... ...
>
> मिल रहे नवल बेलि-तरु, प्राण !
> शुकी-शुक, हंस-हंसिनी संग,
> लहर-सर, सुरभि-समीर, विहान
> मृगी-मृग, कलि-अलि, किरण-पतंग!

['मधुवन']

आँसुओंसे धुलकर निर्मल बन चुके कविके नयनोंने 'गुंजन'में प्रकृतिका सधा, सन्तुलित निखार देखा है, और आत्मस्थ होकर उस निखारसे 'सुख-दुख' में सन्तुलन पाना चाहा है। प्रकृतिकी किसी भी छविको वह विस्मृत नहीं करता, किसीपर अपना आरोप नहीं करता। 'ज्योत्स्ना' इसी तटस्थ दृष्टिका परिणाम है, जहाँ प्रकृतिके अवयव और व्यापार पात्र बनकर कविके मनोमंचपर क्रीडाभिनय कर उसे पूर्णताका पथ बताते हैं। भाव और वस्तुका अद्भुत सन्तुलन 'गुंजन' की विशेषता है, भाव-भीनी वस्तुपरक दृष्टिने उसमें प्रकृतिकी छविके वे शतदल खिलाये हैं जिनकी रस-

गन्धसे आकृष्ट होकर कविका उन्मन चिन्तालीन मन गुंजन करता रहता है। कविकी यह अन्यत्रलीनता 'गुंजन' के स्वरूपको अधिक पार्थिव बनाकर अधिक मोहक बनाती है। यदि प्रकृति-चित्रणकी दृष्टिसे 'पल्लव' की प्रतिनिधि रचना 'उच्छ्वास' थी तो 'गुंजन'की प्रतिनिधि रचना 'नौका-विहार' है। नौकामें बैठे हुए कविका मन जीवनके आदि-अन्तकी सोचता रहता है, पर उसके सधे नयनोंमें नदीका सांगोपांग प्रतिबिम्ब झूलता रहता है। कविताकी अन्तिम पंक्तियोंमें कवि अपनी समस्याका संकेत कर जहाँ इस कविताके प्रकृति-चित्रको थोड़ा बिगाड़ देता है, वहीं वह अपने प्रति ईमान-दारीका भी बड़ा अकम्पित प्रमाण देता है। 'बादल' के वेग-भरे कल्पनारोपित क्रीडा-चित्रोंसे शरद-हासिनी चाँदनीके इस चित्रकी हम तुलना करें तो कविका विकास स्पष्ट हो जायगा—

वह शशिकिरणोंसे उतरी चुपके मेरे आँगन पर
उर की आभा में खोयी अपनी ही छवि से सुन्दर!
वह खड़ी दृगों के सम्मुख सब रूप, रेख, रँग ओझल;
अनुभूति-मात्र-सी उर में आभास शान्त, शुचि उज्ज्वल!

['चाँदनी']

'शान्त, शुचि, उज्ज्वल' किन्तु फिर भी केवल 'आभास'— 'गुंजन' का यही मूल स्वर है।

इस आभासका क्रमिक विकास ही 'युगान्त' 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' का आधार है। दार्शनिक प्रश्नोंका सम्पूर्ण उत्तर खोजते-खोजते ही पन्त विचारक हो उठते हैं, समाज, राजनीति, धर्म, संस्कार, अर्थ-व्यवस्था—इन सबपर वह मनन और विचार करते हैं। प्रकृतिके प्रति उनका सौन्दर्य-बोध अब जीवनकी इन जटिल-ताओंकी उपेक्षा करके नहीं, उन्हें आत्मसात् करके, नया रंग-रूप ग्रहण करता है। 'गुंजन' से 'युगान्त' की ओर यात्रा कर पन्त अपने छायावादी समवर्त्तियोंको पीछे छोड़कर आगे निकल जाते हैं। अब वे अपनी काव्य-यात्रामें अकेले हैं। इस पथ-बिन्दुके

उपरान्त उन्हें केवल अनुगामी ही मिलते हैं, सह-यात्री नहीं। विकासवाद और क्रान्तिवादके सैद्धान्तिक अध्ययनसे अपनी दृष्टिमें एक नयी सोद्देश्यता और वस्तुधर्मिताका समावेश कर अब कवि द्रष्टा बननेकी तैयारी करने लगता है। प्रकृतिके सौन्दर्यका दर्शन अब वह समग्र जीवनके परिप्रेक्ष्यमें करता है—

सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर
मानव! तुम सब से सुन्दरतम!

['मानव']

मानव प्रकृतिके प्रति समर्पित नहीं, प्रकृतिका उपभोक्ता है, कविकी यह नयी उपलब्धि है। इसीलिए 'विहग-कुमारी' अब 'चिड़ियों' का रूप धरकर 'सोनेका गान' नहीं गातीं, 'टी-वी-टी-टुट्-टुट्!' करती हैं और 'श्रम-जर्जर विधुर चराचर पर' मधुर सपने बरसाती हैं।' प्राकृतिक सौन्दर्यका भोग भी, इसीलिए, अब एक नया प्रफुल्ल रूप ले उठा है, जिसमें समर्पण नहीं, ग्रहण है— मानव-मनको निखारनेके लिए। इन चित्रोंके रंग और भंग इस नयी वस्तुधर्मिताका परिचय दे सकेंगे—

चंचल पग दीप-शिखा के धर गृह, मग, वन में आया वसन्त
सुलगा फागुन का सूनापन सौन्दर्य शिखाओं में अनन्त!

... ...

पल्लव-पल्लव में नवल रुधिर पत्रों में मांसल रंग खिला
आया नीली-पीली लौ से पुष्पों के चित्रित दीप जला!

... ...

लो चित्र-शलभ-सी, पंख खोल उड़ने को है कुसुमित घाटी,—
यह है अल्मोड़े का वसन्त, खिल पड़ीं निखिल पर्वत-पाटी!

['युगान्त']

कविके लिए प्रकृति अब शरण-स्थल नहीं, अध्ययन-शाला है, उसके सौन्दर्य से वह शक्ति और रस पाता है, उसके व्यापारोंसे सामाजिक व्यवस्थामें आवश्यक हेर-फेरके दृष्टान्त और उसकी

गतिमें जीवनके लिए सन्देश । 'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र', 'गा कोकिल, बरसा पावक-कण !', 'झर पड़ता जीवन-डाली से मैं पतझड़ का-सा जीर्ण पात' आदि रचनाएँ इसी भावनाकी द्योतक हैं। 'पल्लव' में कविने छायाको सम्बोधन करके कहा था—

हे सखि ! इस पावन अंचल से मुझको भी निज मुख ढँक कर
अपनी विस्मृत सुखद गोद में सोने दो सुख से क्षण भर !

अब 'युगान्त' में उसी छायाके प्रति कवि का उद्गार है :

तुम कुहुकिनि, जग की मोह-निशा,
मैं रहूँ सत्य, तुम रहो मृषा !

छायावादके कुहासेसे निकलकर वास्तवके प्रकाशमें आनेकी यह घोषणा अन्य अर्थोंमें भी महत्त्वपूर्ण है ।

इसमें सन्देह नहीं कि यह प्रकाश नये युगका था, उस युग का जो जीवनकी सारी विषमताओंके मूलकी खोजकर समाज और विश्वको समताके नये सिद्धान्तोंके अनुरूप ढालना चाहता था। पर कवि इस राहपर केवल बाहरी दबावके कारण नहीं आया; उसकी पूर्ववर्ती समर्पण वृत्ति व्यक्तिगत निराशा और विवशताके आघातसे लोक-मंगलकी ओर स्वतः मुड़ गयी थी। युगको अपने अनुकूल पाकर उसके स्वरमें एक अभिनव सन्देशका विश्वास प्रबल हो उठा । इस अर्थमें वह उन छद्म सन्देशवाहकोंसे भिन्न प्रकारका था जो निरे युगानुकरणकी प्रेरणासे लोक-मंगलकी आवाज़ें बुलन्द करने लगे थे। उनकी रचनाओंमें इसीलिए जीवनके विविध पक्षों का—और विशेषतः प्रकृतिके साहचर्यका—अभाव-सा है। पर कवि पन्त अपने नये रूपमें भी समग्रता और समन्वयको नहीं भूल पाते; इसीलिए प्रकृतिकी भी उपेक्षा नहीं कर पाते, उसके सौन्दर्यमें नये अर्थ और सार्थकता खोजते हैं, और समस्त जीवनके समन्वित आदर्शमें उसका स्थान निर्धारित करनेका प्रयत्न करते रहते हैं। उनके प्रकृति-चित्रणके लिए यह युग एक नये सन्तुलनका युग है—

समाज और प्रकृतिका सन्तुलन, व्यक्ति और प्रकृतिका सन्तुलन, इतिहास और प्रकृतिका सन्तुलन। 'युगवाणी' इस दृष्टिसे बड़ी सार्थक रचना है। प्रकृतिको निहारनेका, अर्थ केवल कुसुम, मारुत और खग-कुलको निहारना ही नहीं है, उस भूको भी निहारना है जिसपर 'सुर-मुनि-वन्दित मानव पद-तल' अंकित है। कविकी दृष्टि अब रंग-बिरंगी 'सुमन-चेतना' तितलीपर ही नहीं जाती, चींटीपर भी जाती है क्योंकि—

चींटी है प्राणी सामाजिक
वह श्रमजीवी, वह सुनागरिक।

['चींटी']

प्रकृति-चित्रणकी यह नया आयाम है जिसमें उपनिषदोंकी तल-स्पर्शी भावुकता वैज्ञानिक तर्क-प्रणालीसे अपना मेल बैठानेकी चेष्टा करती है। वर्णन-लालित्य, और बिम्ब-ग्रहणमें अब भी पहले-सा ही चारु शिल्प है, पर अब कवि प्रकृतिके प्रत्येक दर्शनसे समाजके लिए कुछ पाना चाहता है। गंगाका वर्णन करते-करते इस प्रकारकी पंक्तियोंकी यही सार्थकता है—

क्षुद्र व्यक्ति को विकसित होकर बनना अब जन-मानव
सामूहिक मानव को निर्मित करती है संस्कृति नव
मानवता के युग-प्रभात में मानव जीवन-धारा
मुक्त अबाध बहे, मानव जग सुख-स्वर्णिम हो सारा!

['गंगाका प्रभात']

यही तर्क-प्रणाली कविको अगली रचनाओंमें ग्रामोन्मुख कर देती है। छायावादी काव्य-धाराकी यह अभावित परिणति तब भी मर्मज्ञोंके आश्चर्यका विषय बनी थी और आज भी बनी हुई है। 'ग्राम्या'का स्थान काव्यमें वही है जो उपन्यासोंमें 'गोदान'का पर पन्त और प्रेमचन्द दो भिन्न मार्गोंसे चलकर गाँवोंमें पहुँचे हैं। यह पन्तके साहस और संकल्पका प्रताप है जो उन्हें 'ग्राम्या' में इतनी सफलता मिली। उनके जैसे संस्कारी और रहस्यदर्शी कविने जब

ग्राम-जीवनके गलित यथार्थपर दृष्टिपात किया था तब ये दोनों सम्भावनाएँ थीं कि या तो कविको स्वप्नभंगकी-सी अनुभूति हो या उसके विचारोंकी आधार-शिला हिल जाय। पर 'ग्राम्या' इन दोनों सम्भावनाओंसे बच गयी। इसमें पहली बार हमें अपने ग्राम-जीवनका आदर्श-प्रेरित यथार्थ स्वरूप मिला जो कविकी पार-गामी दृष्टिके मंगल आलोकसे मण्डित है। वाद-प्रतिश्रुत कविगण जहाँ भटक गये वहाँ पन्तने अपना जय-केतन स्थापित किया। 'ग्राम्या' में वस्तु-परक चित्र-सौन्दर्य और जन-मुक्ति-कामनाका अभूतपूर्व मेल सम्पन्न हुआ है। तर्कसे राग तक उतरनेकी यह कठोर साधना पन्तके व्यक्तित्वको नया निखार देती है।

'ग्राम्या' में ग्राम-जीवनके अनुपम चित्र हैं, जिनमें ग्राम-प्रकृतिके भी अनेक चित्र सम्मिलित हैं। इन चित्रोंका विवरण-कौशल कविकी वस्तु-निष्ठाका प्रमाण है तो इनका नियोजन उसकी मंगल-कामनाका। प्रकृति यहाँ जीवनकी पृष्ठभूमि मात्र नहीं है, वह जीवनको सहायक भी है। यदि प्रकृतिका यह दर्शन—

यह रवि-शशि का लोक—जहाँ हँसते समूह में उडु-गण,
जहाँ चहकते विहग, बदलते क्षण-क्षण विद्युत्-प्रभ वन!
यहाँ वनस्पति रहते, रहती खेतों की उजियाली,
यहाँ धूल हैं, यहाँ ओस, कोकिला, आम की डाली!
ये रहते हैं यहाँ,—और नीला नभ, बोयी धरती,
सूरज का चौड़ा प्रकाश, ज्योत्स्ना चुपचाप विचरती!
प्रकृति-धाम यह: तृण-तृण, कण-कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित,
यहाँ अकेला मानव ही रे चिर-विषण्ण, जीवन्मृत!

[**'ग्राम-चित्र'**]

मानव-जीवनके विषादकी पीठ बनता है, तो ग्राम-युवतीका चित्र हमें प्रकृतिके आशीर्वादका, मानव-जीवनमें उसके योगका स्मरण करा देता है। पर 'ग्राम्या'में ऐसे प्रकृति-चित्र भी कम नहीं हैं, जो केवल सौन्दर्य-चित्र हैं, जहाँ कवि अपना सन्देश-वाहकत्व

भूलकर मुग्ध भावसे प्रकृति-दर्शन करता है। ग्रामीण प्रकृतिके वैभवके ये चित्र अद्भुत साक्षी हैं :

रोमांचित-सी लगती वसुधा आयी जौ-गेहूँ में बाली
अरहर-सनई की सोने की किंकिणियाँ हैं शोभाशाली
उड़ती भीनी तैलाक्त गन्ध फूली सरसों पीली-पीली
लो, हरित धरा से झाँक रही नीलम की कलि, तीसी नीली

['ग्राम-श्री']

गुन के बल चल रही प्रतनु नौका चढ़ाव पर,
बह रहे तट दृश्य चित्रपट पर ज्यों सुन्दर!
वह, जल से सट कर उड़ते हैं चटुल पनेवा,
इन पंखों की परियों को चाहिए न खेवा!
ठुमक रही उजियारी छाती, करछौहें पर,
श्याम घनों से झलक रही बिजली क्षण-क्षण पर!
उधर कगारे पर अटका है पीपल तरुवर—
लम्बी, टेढ़ी जड़ें जटा-सी छितरीं बाहर!

['दिवा-स्वप्न']

पिक-बयनी मधुऋतु से प्रति वत्सर अभिनन्दित
नव आम्र-मंजरी मलय तुम्हें करता अर्पित।
प्रावृट् में तव प्रांगण घन-गर्जन से हर्षित
मरकत-कल्पित नव हरित प्ररोहों में पुलकित!
शशिमुखी शरद करती परिक्रमा कुन्द-स्मित
वेणी में खोंसे काँस, कान में कुँई लसित
हिम तुम को करता तुहिन-मोतियों से भूषित,
बहु सोन-कोक युग्मों से तव सरि-सर कूजित!
अभिराम तुम्हारा बाह्य रूप, मोहित कवि-मन
नभ के नीलम-सम्पुट में तुम मरकत शोभन!

['ग्राम-देवता']

पर यह बाह्य रूप कविको सन्तुष्ट न कर सका। उसने देहके ही नहीं, प्राणोंके दैन्यका भी अनुभव किया, और तब उसे लगा कि जीवनका संस्कृतिसे कितना अटूट नाता है। 'ग्राम्या'में ही कवि कह उठा था :

'आज बृहत् सांस्कृतिक समस्या जगके निकट उपस्थित;'

और जब वह इस सांस्कृतिक समस्याका समाधान खोजने चला तो जिस प्रकार 'युगान्त'पर पहुँचकर उसने छायावादियोंको पीछे छोड़ दिया था, उसी प्रकार 'स्वर्ण-किरण'के सन्धानमें उसने प्रगतिवादियोंको पीछे छोड़ दिया। गान्धीवाद और मार्क्सवादके समन्वयकी बात तो वह पहले भी कह चुका था, अब उसमें अरविन्दवादका समन्वय भी आवश्यक हो गया।

पन्तके प्रकृति-चित्रणकी विशेषतापर विचार करते समय उनके काव्यके अन्य पक्षोंकी चर्चा संगत नहीं मानी जा सकती, पर 'स्वर्ण-किरण' एवं परवर्ती रचनाओंमें प्रकृति-चित्रणका वैशिष्ट्य उन पक्षोंपर ध्यान दिये बिना उपलब्ध नहीं किया जा सकता। 'ग्राम्या' तक यद्यपि प्रकृतिके प्रति कविके रुखमें कई बार परिवर्तन हुए थे, पर उन सबमें धरातल एक ही था, इसलिए उन परिवर्तनोंको समझना अपेक्षया सरल है। पर 'स्वर्ण-किरण'में धरातल ही बदल गया है। कवि अब आगे नहीं जा रहा है, वह ऊपर उठ रहा है, अग्रगामी न होकर वह ऊर्ध्वगामी हो गया है। 'पल्लव' तक वह प्रकृतिके साथ था, 'ग्राम्या' तक प्रकृति और समाजके साथ; पर अब वह प्रकृति, समाज और संस्कृति तीनोंको साथ लेकर भविष्यके स्वप्न-पथपर संचरण करना चाहता है। 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्ण-धूलि' 'उत्तरा' 'युगपथ' 'अतिमा' 'वाणी' 'रजत-शिखर' 'शिल्पी' 'सौवर्ण'—इन सब रचनाओंमें कविका यह ऊर्ध्वगमन एक-सूत्रता लाता है, और उसके समग्र दर्शनके अंश-स्वरूप प्रकृति-चित्रणको एक नया गुण देता है। उसकी अनुभूति अब विश्वानुभूति है, उसके प्राणोंमें नयी आध्यात्मिक चेतना है, वह अब

मानव-मात्रके समग्र कल्याणके लिए भविष्य-स्वप्नोंकी ऐसी झाँकी प्रस्तुत करता है जिससे हम आजकी मटमैली स्थितिकी तुलना कर अपने अभावोंका बोध पा सकते हैं, अपनी हीनताके प्रति सचेत हो सकते हैं। और क्योंकि कविका पद्य अब भविष्य-स्वप्नोंका पद्य है इसलिए उसमें अपरिचयका एक मनोरम कौतूहल है, रहस्य-भेदनकी एक धुँधली प्रतीति है, नयी दिशाका एक विचित्र आभास है। इन रचनाओंमें कविके शब्द अपने परम्परागत अर्थोंकी भूमिसे उखड़कर मानो अधरमें झूलने लग गये हैं, उसकी अत्यन्त वैयक्तिक दृष्टिसे रँगकर यह चिर-परिचित दृश्य जगत् एक अपरूप सुषमासे मण्डित हो गया है। यह एक नये प्रकारका रहस्यवाद है, जो पन्तका अपना है। उसमें कविके अपने प्रतीक हैं, अपने शब्दार्थ हैं, अपनी रँग-कल्पना है। उनका अर्थ-ग्रहण साधना माँगता है, उनका रस-ग्रहण और भी कठिन है। अब तक कवि हमारे ही धरातलपर खड़ा था, वह जो चित्र देखता था, वे हमें पहले चाहे न दीख सके हों, पर उसके अंगुलि-निर्देशपर तुरन्त दीख जाते थे। किन्तु अब कवि मानो उड़कर अन्तरिक्षसे नीचे भूमिको देख-कर उसका वर्णन कर रहा हो। कण्वाश्रममें कैशोर्य बितानेवाली शकुन्तला समाजके निर्ममत्वकी कड़वी स्मृति लिये मानो देवलोकमें महर्षि कश्यपके आश्रममें पहुँच गयी है। अपनी कल्पना द्वारा जब तक हम उसके पास जाकर खड़े न हो सकें तब तक उन दृश्योंकी उपलब्धि हमें नहीं हो सकती जिनके सौन्दर्यने उसे नयी स्फूर्ति और चेतना दी है।

इसीलिए इन रचनाओंका प्रकृति वर्णन केवल हिन्दीके ही लिए नहीं, साहित्यमात्रके लिए अनूठा है। जहाँसे कवि देख रहा है, वहाँसे प्रकृति और मानव-समाज दोनों परस्पर आबद्ध दिखाई देते हैं—यही नहीं, इतिहास, पुराण, संस्कृति और विज्ञान भी एक-दूसरेसे संश्लिष्ट नज़र आते हैं। इसलिए कवि ऐसे समन्वित चित्र उपस्थित करनेका प्रयास करता है, जिनमें नदी और आत्मा,

लहर और कामना, उषा और चेतना परस्पर गुँथी हुई हैं। 'पल्लव' में कविने वेदनाभिभूत होकर कहा था :

एक ही तो असीम उल्लास,
विश्व में विविधाभास !

['परिवर्तन']

'स्वर्ण-किरण'में कवि मुग्ध होकर उसी विविधाभासमें अन्तःस्थित असीम उल्लास (चेतना) के दर्शन करता है, और प्राणोंके रंग-मय प्रकाशसे उसे रँगकर समस्त दृश्य जगत्पर बिखेर देता है। प्रकृतिका मानवीकरण तो हमारा परिचित है, पर इस प्रकार ज्योति-चेतनासे उसका रूपान्तरण हमने पहले कभी नहीं देखा था। कवि प्रकृतिका वर्णन कर रहा है, या मानव-भावनाका, या भविष्य-स्वप्न का—यह कहना भी कठिन हो जाता है।

व्रीडा दौड़ी भू पर आ ऊषा के मुख पर
प्रणय-रुधिर से हृदय शिराएँ काँपी थर-थर !
अधर-पल्लवों में जागा मधु स्वर्णिम मर्मर
मौन मुकुल मुख खिला लालिमा से रँग सुन्दर !
क्या था गिरि-कुंजों में, सरित-तटों में गोपन
लिपटी मर्म-मधुर लज्जा में जो अमर किरण !
सलज किसलयों का धर आनन पर अवगुंठन
स्वर्ग-चेतना बनी लाज मदिरा पी मोहन !

[स्वर्ण-किरण, 'ऊषा']

परवर्ती समस्त रचनाएँ इसी गुणसे वेष्ठित हैं। इस गुणकी परिभाषा भी सरल कार्य नहीं है। वह न सूक्ष्मीकरण है, न वायवीकरण है, न भावारोपण है—वह तो एक ऐसे प्रबुद्ध द्रष्टा कविका मानस-लोक है जहाँ सृष्टिकी मूल चेतना अपने ज्योतिकणोंसे समस्त अस्तित्वोंपर आलोककी पर्त चढ़ा देती है। वहाँ पहुँचकर हिमालय महाकाल बन जाता है, सागर मनश्चेतना और लहरें मत्स्यगन्धाएँ।

अद्वैत चेतनाकी यह नयी प्रतीति कविको सहज ही आदि-काव्यकी ओर ले जाती है। वेदोंकी ऋचाओंको वह स्वर देता है, उनमें नयी ऋचाएँ भी जोड़ता है। जीवनके किसी एक पक्षका, किसी एक वादका, किसी एक अंगका वह कवि नहीं है, वह समग्रका है। इसीलिए अब वह केवल प्रकृतिका भी कवि नहीं है—उसके प्राकृतिक चित्र इस समग्र चेतनाके परागसे आलिप्त हैं। वह अब द्रष्टा ही नहीं, मन्त्र-द्रष्टा भी है। 'कला और बूढ़ा चाँद'की रचनाएँ कविता ही नहीं, मन्त्र भी हैं जिनमें पन्तकी जीवन व्यापी मंगल-कामना ज्योति-रूपोंमें व्यक्त हुई है। 'धेनुएँ' शीर्षक रचनामें नदियोंका यह वर्णन ऐसी ही मन्त्र-शैलीमें हुआ है जो मानव-जीवन और संस्कृतिको नदियोंके दानका निरूपण तो करता ही है, भविष्य-निर्माणका प्रतीक भी है :

ओ रँभाती नदियो,
बेसुध
कहाँ भागी जाती हो?
वंशी-रव
तुम्हारे ही भीतर है!
ओ फेन-गुच्छ
लहरों की पूँछ उठाये
दौड़ती नदियो!
इस पार-उस पार भी देखो,—
जहाँ फूलों के कूल,
सुनहले धान के खेत हैं!
कल-कल छल-छल
अपनी ही विरह-व्यथा,
प्रीति-कथा कहते
मत चली जाओ!

क्या इस रचनामें वर्णित नदी प्राकृतिक नदी है, क्या वह केवल-मात्र प्रतीक है किसी चेतना-प्रवाहकी, क्या वह कविकी कोई उमंग-भर है ? कहना कठिन है । पर उसमें अनुभूतिकी ऐसी मीठी तीव्रता है, समग्रताकी एक ऐसी तरल झाँकी है, जो मानो अब 'गूँगेका गुड़' बननेवाली है । द्रष्टा पन्तके नयन अब बाह्य यथार्थ-की पर्तोंको उघाड़कर कोई नया पूर्ण सत्य देखनेमें लीन है ।

पर वह जन्म-सहचर 'गिरि-कोयल' अब भी कविके प्राणोंमें मुखर है । कवि मानो अपने भविष्य-दर्शनके प्रयाससे थककर कभी-कभी अपना मन बहलानेके लिए उसकी तान सुनने लग जाता है । और तब कुछ ऐसी रचनाओंकी सृष्टि हो उठती है, जिनमें हम प्रकृतिके उन रंग-गन्ध-गतिमय चित्रोंको फिर पा जाते हैं जिनके दर्शनने पन्तको कैशोर्यमें उद्वेलित कर दिया था और जिनकी स्मृति आज भी उन्हें मोहित कर लेती है । 'जन्म-दिवस', 'कूर्मा-चलके प्रति' ऐसी ही रचनाएँ हैं । इनका चित्रण-कौशल और इनका निखार हमारे काव्यकी अमूल्य सम्पत्ति हैं ।

ठाकुरप्रसाद सिंह

समकालीन कवितामें प्रकृति-चित्रण और लोक-साहित्य

समकालीन कविताने लोक-साहित्य और लोक-कवितासे जो प्रेरणा ली है, उसका प्रभाव शिल्पपर, शब्दावलीपर, वस्तुपर और वर्णन-परिपाटी सभीपर है; बिम्ब और प्रतीक भी वहाँसे लिये गये हैं। यद्यपि हिन्दी कविताके नये स्वरूपपर इस प्रभावकी झलक काफ़ी पहले पड़ने लग गयी थी, किन्तु सन् '५०-'५१ के आस-पास कविताके नये बिम्बोंकी तथा शब्दावलीकी खोज अधिक तीव्र हो जानेपर नये कवियोंका ध्यान इस अछूते प्रदेशकी ओर गया, जहाँ उन्हें न केवल नये शब्द-प्रतीक मिले वरन् अभिव्यंजनाके सुथरे और कहीं अधिक जीवित माध्यम भी मिले। प्रगतिशील कविता का आन्दोलन इस समय अत्यन्त अस्वाभाविक उत्तेजनाके वशमें था, जिसके कारण उसके अपने ही कवियोंके मनोभावोंके प्रकटीकरणका कोई समुचित माध्यम नहीं रह गया था। यह स्थिति कवितामें नये स्वर उठनेके लिए सर्वथा उपयुक्त थी।

इसीलिए जब 'अज्ञेय' के नये प्रयोग, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, केदारनाथ सिंह, रामदरस मिश्रकी नयी कविताएँ पुराने वातावरणमें गूँजीं, तो लगा कि जैसे ताज़ी हवाका एक झोंका उत्तेजना और उमससे तपते वातावरणमें कहींसे भटका हुआ आ गया है। सन्थाली गीतोंकी ताज़गी का प्रभाव ग्रहण करके लिखे गये प्रस्तुत लेखकके गीतोंके लिए कहा गया कि इनकी ताज़गी उन्हें सभी पुरानी कविताओंसे अलग कर देती है। बादमें शम्भूनाथ सिंह, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन आदिकी कविताएँ सामने आयीं, नरेश मेहताकी

रचनाओंमें 'तार सप्तक'के बाद एक नया रंग उभरा और गिरिजाकुमार माथुर, भवानीप्रसाद मिश्रकी कुछ कविताओंका नये सिरेसे मूल्यांकन हुआ; और यह बात क़रीब-क़रीब मान ली गयी कि सन् १९५० के बादकी नयी हिन्दी कवितापर लोक-साहित्यका एक निश्चित प्रभाव पड़ा है। पाश्चात्य कविताके प्रभावके बाद यह प्रभाव सम्भवतः नयी कविताका स्वरूप बनानेमें सर्वाधिक महत्त्वका रहा। लोक-काव्य और कथाओंके प्रभावकी चर्चा किये बिना नयी कविताकी चर्चा अधूरी रहेगी। बल्कि ऐसा भी कहा जा सकता है कि पश्चिमी प्रभाव लेकर लिखी गयी और इसीलिए अनुवाद जैसी गन्ध देनेवाली कविताओंका प्रभाव समाप्त करने, तथा नयी कविताको स्वस्थ जातीय-धरातलपर प्रतिष्ठित करनेका कार्य इस लोक-साहित्यके प्रभावने सफलतापूर्वक किया है। स्पष्ट है कि सन् १९५०–५१ में लोक-साहित्यका प्रभाव कविताओंके बाहरी कलेवरपर अधिक था। धीरे-धीरे उसने कविताकी आत्मामें प्रवेश किया और आज वह नयी कविताके परिवेशमें इस तरह भिद गया है और बुनावटका ऐसा अंश बन गया है जिसके चलते नयी धूप-छाँही लहरें कवितामें अपने आप स्पष्ट होने लग गयी हैं। आज केदारनाथ सिंह, रामदरस मिश्र, श्रीकान्त वर्मा, या नरेश मेहताकी कविताओंमें यह प्रभाव अन्तर्भुक्त है और उनकी समस्त कविताओंको एक नवीन लोक-गन्धसे आपूरित करता है। किसी भी बाहरी प्रभावकी सफलता और चरम परिणति भी यही है। इस दृष्टिसे लोक-साहित्यके प्रभावकी स्वाभाविक परिणति सम्पन्न हो चुकी है।

लोक-साहित्यके प्रभावके कई स्वरूप रहे हैं, जिनमें सर्वाधिक प्रभाव लोक-कवितामें आयी हुई प्रकृतिका रहा है। प्रकृतिने लोक-कवियोंको एक तरहसे अपने आँचलमें लपेट रखा है। जिस सामाजिक व्यवस्था और वातावरणमें लोक-साहित्यका निर्माण हुआ होगा, वह पूर्णतया कृषि-प्रधान रहा, उस पर गाँव-देहातके आस-

पासकी प्रकृतिका गहन प्रभाव रहा। सभी बिम्ब वहाँकी प्रकृतिसे ग्रहण किये गये और उपमान, दृष्टान्त तथा मनःस्थितियोंके चित्रण के लिए आस-पासकी प्रकृतिसे सहायता ली गयी। प्रकृति वहाँ गाँव-घरके रहनेवालोंसे तटस्थ नहीं थी, जन-समाजके स्नेहकी सुगन्धित चादर उसको घेरे हुए थी। वही चादर जो गाँवमें हर घर और रास्तेपर फैली है, जो एक घरको दूसरे घरसे जोड़ती है। वही अमराईको, नदीको, पहाड़को, चन्द्रमाको, तारोंको गाँवके आदमियोंसे जोड़ती है। उनके आपसके रिश्ते बनाती है, जैसे चाँद-सूरज बीरन होते हैं, नदी माता होती है, तालाब घर बनता है और चिड़ियाँ बेटियाँ बनती हैं। लोक-कवितामें इसीलिए प्रकृति केवल प्रकृतिके रूपमें कहीं नहीं जाती।

नये कवियोंने प्रकृतिको क़रीब-क़रीब इसी मनःस्थितिमें ग्रहण किया है। संवेदनाको अधिक तीव्र और स्पष्ट करनेके लिए उन्होंने नये बिम्बों तथा प्रतीकोंकी बेचैनीसे खोज की है और ऐसी खोजमें वे लोक-कविताके और उसके सबसे सफल माध्यम प्रकृतिके पास पहुँचे हैं।

यह प्रभाव-ग्रहण अचानक या अनचाहे नहीं हो गया है; इतना व्यापक प्रभाव ऐसी आसानीसे पड़ता भी नहीं। एडमंड विल्सनने एक जगह लिखा है[1] कि प्रतीकों या बिम्बोंकी क्रान्ति वस्तुतः वैचारिक क्रान्तिका ही पर्याय है, उसे अलग करके देखने का तरीक़ा अस्वाभाविक है, इसलिए ग़लत है। यहाँ जब लोक-कविता के बिम्बों, प्रतीकों, शिल्प, शब्दावली आदिके प्रभाव-परिवर्तनोंकी चर्चा की जा रही है तब हमारे सामाजिक जीवनमें घटित हो रही वैचारिक क्रान्तिको उसके परिपार्श्वमें रखना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

ऊपर संकेत किया गया है कि पहलेकी कविताओंकी तुलनामें इधरकी नयी कविताओंमें एक नयी (लेकिन मूलतः जातीय और

१. 'ऐक्सेल्स कासल', पृ० ५-६

इसीलिए अपनी) गन्धका समावेश हुआ है। यह प्रभाव केवल कविताओंमें ही परिलक्षित नहीं है बल्कि अन्य रचनात्मक माध्यमों पर भी इसका गहरा असर है। हिन्दी उपन्यासोंमें आंचलिकताका आन्दोलन और हिन्दी कहानियोंमें गाँवों और कस्बोंकी कहानियों का नारा इसी प्रभावकी परिणति है। यहाँ यह विचार नहीं करना है कि यह किस सीमा तक उचित है, या कहाँ अनुचित; चर्चा केवल प्रभावकी है, और इसमें दो मत नहीं हो सकते कि यह प्रभाव पूरे रचनात्मक साहित्यपर पड़ा है।

जार्ज मैकबेथने एक निबन्धमें कहा है[1] कि "आज पूरी दुनियामें लिखी जानेवाली नयी कविताओंमें एकरूपता और साम्य आ गया है। उन्हें देखकर एकाएक उनका देश और क्षेत्र-विशेष पहचानना मुश्किल होता है।" दूसरी तरहसे इसे यों कह सकते हैं कि समकालीन कविता अपने मूलसे उच्छिन्न हो गयी है, या उसकी ख़ास कोई ज़मीन नहीं है जहाँ वह अपनी जड़ें जमाये। वह सार्वदेशिक हो गयी है। इस स्थितिकी प्रतिक्रिया आंचलिकता, लोक-जीवन तथा लोक-कविताके ग्रहण करनेके आन्दोलनमें स्पष्ट परिलक्षित होती है। आज लोक-काव्यके प्रभाव-की व्याख्याके साथ यह बात कहनेका केवल इतना ही मतलब है कि लोक-कविता या लोक-प्रकृतिको सम्प्रति नये आन्दोलनोंसे काटकर अलगसे नहीं देखा जा सकता। जो बेचैनी इन आन्दोलनों-की प्रेरणा थी, वही नये कवियोंको भी लाचार कर रही थी।

ध्यानसे देखनेपर लोक-कविताओंके तीन तरहके प्रभाव नयी कवितापर दीख पड़ते हैं। एक तो नये गीतोंकी लयपर, जिसके चलते शम्भूनाथ सिंह, केदारनाथ सिंह, रामदरस मिश्र, रूपनारायण त्रिपाठीने कई अच्छे गीत लिखे हैं। इन गीतोंको बड़ी आसानीसे छायावादके बादके गीतोंसे अलग किया जा सकता है। केदारनाथ अग्रवाल, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वर

१. लंडन मैगेजीन, नवम्बर १९५९

दयाल सक्सेना तथा 'अज्ञेय' ने भी अपने कविता-संग्रहोंमें ऐसे कुछ गीतोंका समावेश किया है। भवानीप्रसाद मिश्रपर लोक-गीतों तथा कथानकोंके 'सैलानीपन' तथा विशिष्ट कथनका प्रभाव उन्हें अन्य कवियोंसे अलग कर देता है।

दूसरा प्रभाव कवितामें ग्रहण किये गये नये शब्दों, बिम्बों तथा प्रतीकोंके रूपमें परिलक्षित हुआ है। इसके चलते नये गीतों तथा कविताओंमें लोक-चित्रकला जैसा एक नया पैटर्न आया है। नरेश मेहता, शम्भुनाथ सिंह, गिरिजाकुमार माथुर तथा 'अज्ञेय' में यह प्रवृत्ति विशेष रूपसे देखी जा सकती है।

तीसरी प्रवृत्ति ऊपरके दोनों प्रभावोंको समोकर विकसित होने वाली है। इसने लोक-गीतोंकी मनःस्थितिको ('मूड' को) पकड़ा है। इसके चलते हिन्दीमें एक नये तरहके साहित्यकी अवतारणा हुई है। जैसा कि मैंने ऊपर कहा, वह केवल शब्दों या लयोंका आदान-प्रदान मात्र नहीं है अपितु इसके पीछे दो प्रवृत्तियोंका परस्पर आदान-प्रदान चल रहा है। इसलिए जब हम लोक-साहित्यसे कोई शब्द लेते हैं तो इसके साथ वह पूरा परिवेश स्वीकार करते हैं जिसमें वह शब्द उपजता है और पुष्पित होता है। यह कार्य पुरानेसे अलग कुछ नया स्वीकृत करने तथा जो कुछ नया स्वीकृत किया जाता है उसे पूरी गहनतासे अनुभव करनेका है। यह नया अनुभव पुराने शब्दोंको भी नयी अभिव्यञ्जना देता है और नये बिम्ब उपस्थित करता है। उदाहरणके लिए हम ऐसे कुछ नये शब्द-प्रयोगोंको लें। श्री नरेश मेहताने अपने ग्रन्थ 'बन-पाँखी सुनो' के अन्तमें कुछ विशिष्ट शब्द अलगसे छापे हैं। उनमेंसे कुछ ये हैं :—गाम-गोयरे, पाण्डुखोरी, झाल, गरवट, टीमरू तथा जात्रा। इनके अलावा भी अपने पूरे संग्रहमें उन्होंने कुछ नये शब्द-बिम्ब दिये हैं, जैसे पगवट, डाकती संझा, मोरपंखिया चाँदनी, मुख-दूज, हलदूडैना चाँदनी, आयु-तुलसी, गाछ सोनाले

तथा नागचन्दा। इन शब्दों तथा बिम्बोंके माध्यमसे नये भाव-बोध उपस्थित करनेका प्रयास नरेश मेहताने किया है। थोड़ेसे शब्द-माध्यमोंके चलते उनकी 'सप्तक' के बादकी कविताओंकी ध्वनि बिलकुल ही बदल गयी। उनके पहलेके गीतोंसे इस नये गीत अंशको आसानीसे अलग करके देखा जा सकता है :—

पीले फूल कनेर के,
पथ अँगोरते,
सिन्दूरी बडरी अँखियन के,
फूले फूल दुपेर के।
पाट पट गये,
कगराये तट,
सरसों घेरे खड़ी हिलाती गीत-चँवरिया सूनी पगवट,
सखि, फागुन भी आया मन पे हलद् चढ़ गयी,
मँहदी-महुए की पछुआ में,
नींद-सरीखी लाज उड़ गयी,
कागा बोले मोर अटरिया,
इस पाहुन बेला में तूने,
चौमासा क्यों किया पिया ?
क्यों किया पिया ?
यह टेसू-सी नील गगन में हलद् चाँदनी उग आयी री,
उग आयी री,
पर अभी न लौटे उस दिन गये सबेर के
पीले फूल कनेर के।

शम्भूनाथ सिंहके नये कविता-संग्रह 'माध्यम मैं' में सौंधी प्रतिध्वनियोंके अन्तर्गत प्रकाशित कविताएँ कुछ सुन्दर शब्द-बिम्ब देती हैं, जैसे 'कसमस फागुन मास'। उनके एक गीतका एक पद इस प्रकार है :

नीम का हिंडोला,
और मालिन का द्वार,
एक बूँद की प्यासी,
माँ रही पुकार।
यह पुकार नींद के किवाड़ रही खोल,
बजता है ढोल कहीं पूजा के बोल।

इस गीतमें पूरबमें गाये जानेवाले माता भवानीके गीत 'निमिया की डरिया मैया डारलीं हिंडोरवा, मैया झुली हो झुली ना' का प्रभाव है और केवल नीमकी डार और मालिन शब्दसे पूरा गीत गूँज उठता है। ऐसा ही उनके और गीतोंमें भी हुआ है।

केदारनाथसिंहके प्रारम्भिक गीतोंमें लोक-गीतोंकी प्रकृति काफ़ी सजीव चित्रित हुई है। 'टहनीके टूसे पतरा गये, पकड़ीको पात नये आ गये', 'धान उगेंगे कि प्रान उगेंगे', 'रात पिया पिछ-वारे पहरू ठनका किया, तथा 'गीतोंसे भरे दिन फागुनके ये' आदिमें अपने देशकी प्रकृति तथा लोक-गीतोंमें चित्रित उसके बिम्बोंके प्रति कविके सहज मोहके दर्शन होते हैं। इन गीतोंकी पूरी धड़कन लोक-गीतोंकी है, शब्द-चित्र तथा व्यञ्जना वहींसे ली गयी है :

धूप ढरे तुलसी-वन झरेंगे,
साँझ घिरे पर कनेर,
आना जी बादल जरूर।
धान पकेंगे कि प्रान पकेंगे,
पकेंगे हमारे खेत में,
आना जी बादल जरूर।
झीलों के पानी खजूर हिलेंगे,
खेतों के पानी बबूल,
पछुवा के हाथों में शाखें हिलेंगी,

पुरवा के हाथों में फूल,
आना जी बादल जरूर ।
धान तुलेंगे कि प्रान तुलेंगे
तुलेंगे हमारे खेत में,
आना जी बादल जरूर ।

इस कवितामें तथा ऐसी अन्य कविताओंमें कविने नये शब्द-प्रतीकोंकी भीड़ लगा दी है। आज ये प्रतीक इस कविकी कविताओंसे आगे भी बढ़ गये हैं और कितने ही नये कवियोंने इनके बलपर अपनी कविताओंको नये रूपमें ढाला है। यह प्रभाव सर्वाधिक जिन कवियोंपर दीख पड़ता है उनमें परमानन्द श्रीवास्तव, भगवान सिंह तथा रामसेवकके नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। ऐसे ही नरेश मेहता द्वारा प्रयुक्त नये शब्द-बिम्ब श्रीकान्त वर्मा, 'आग्नेय', राजा दुबे तथा प्रबोध कुमारकी कविताओंमें बिखरे हुए देखे जा सकते हैं। केदारनाथ सिंहने इधर विदेशी कविताका अध्ययन किया है और 'अभी बिल्कुल अभी' में प्रकाशित उनकी अधिकांश कविताओंपर उस अध्ययनका प्रभाव है किन्तु इस संग्रहमें भी कितने ही सुन्दर प्रतीकों और बिम्बोंके लिए वे लोक-कविताके आभारी होंगे। 'चाँद-सी उसकी हथेली, फूल जैसे पाँव' वाले बच्चेके साथ चलनेवाली उनकी कवितापर लोक-कथाचित्रोंका सुन्दर प्रभाव है। वैसे ही इस कवितामें :

माँ ने लगाये हैं
तुलसी के बिरवे दो,
पिता ने उठाया है
बरगद छतनार,
मैं अपना नन्हा गुलाब,
कहाँ रोप दूँ ?

इस कवितामें लोक-कविता नया रूप लेती दीख पड़ती है।

उनकी 'एक दिया' शीर्षक कविता यद्यपि पॉल एलुआरकी 'स्वतन्त्रता' कविताका प्रभाव लेकर लिखी गयी है किन्तु उसमें लोक-गीतोंकी शैलीकी सप्राणता नया प्रकाश डाल देती है।

भवानीप्रसाद मिश्रके गीत 'पीके फूटे आज प्यारके पानी बरसा री' में तथा केदारनाथ अग्रवालके गीत 'धीरे उठाओ मेरी पालकी' में लोक-गीतोंकी अनुगूँज है; वैसे ही धर्मवीर भारतीके 'ठंढा लोहा' में प्रकाशित 'घाटके रास्ते' तथा 'बोवाईके गीत' में लोक-गीतोंकी ध्वनि पकड़ी गयी है। त्रिलोचन शास्त्रीने लोक-गीतोंके शब्दोंकी सहायतासे नये प्रकृति-चित्र उभारे हैं; जैसे 'मेंहदी की अरधान' तथा 'कौंधा लपका' नये चित्र देते हैं। यह कवि तथा शमशेरबहादुर सिंह कवितामें किसी भी प्रभावको तिर्यक् रास्तोंसे ग्रहण करते हैं; लेकिन देखनेमें यह बोध काफ़ी सहज लगता है। शमशेरबहादुर सिंहकी कविता है—

सावन की उनहार,
आँगन पार,
रस बरसे, हुन बरसे,
बरसे पावस-धार।

प्रस्तुत लेखके लेखकने अपने नये गीतोंके लिए सन्थाल लोक-कविताका प्रभाव स्वीकार किया है। ऊपरके वर्णित सभी कवियोंकी अपेक्षा इन कविताओंकी लय, शिल्प, बिम्ब तथा मनः-स्थितियोंपर लोक-कविताका प्रभाव अधिक गहरा है। इन कविताओंकी प्रकृति, हिन्दी कवितामें आयी प्रकृतिकी तुलनामें नये और अधिक संवेदनशील रूप-ढंग प्रस्तुत करती है। इसका कारण एक तो नये भाव-लोक तथा अंचलका प्रभाव है, दूसरा कारण है लोक-जीवनमें कविकी निजी आस्था। यह आस्था ही उसका सबसे बड़ा बल रही है।

'वंशी और मादल' कविता-संग्रहमें आये विशेषण तथा बिम्ब

हिन्दीके लिए नये हैं। दूधका तरु, कुकुर-दुबुर स्वर, कचमच धूप, साखूकी डालपर उदास मन, गोरा जल, लिकलिक बेला, लाल चन्दन, तुलसी-मंजरी, पाँच जोड़ बंसरी, जामुनी जल, आँखोंमें निथराता मनका दर्द, पथरोट्टेका कूप आदि पहली बार नये सन्दर्भमें हिन्दी कवितामें प्रयुक्त हुए हैं। प्रकृति-चित्रोंका बहुरंगी स्वरूप भी यहाँ नया है और नयी सम्भावनाएँ लिये हुए है। पर्वतकी घाटीकी निर्झरिणीके चंचल-जलका चित्र कैसे एक स्त्री-रूप ले लेता है? इस कवितामें यह दोहरा बिम्ब काफी स्पष्ट है—

पर्वत की घाटी का जल,
चंचल,
झरने का दूध धवल,
एक घड़ा सिर पर ले,
एक उठा हाथ में,
मैं चलती जल चलता
साथ में,
मेरी कच्ची कोमल देह पर,
छलक-छलक जल गाता है छल-छल
जल चंचल।

कवि-सूची

(पृष्ठ-संख्या कोष्ठकों में दी गयी है)

प्रथम पंक्तियों की सूची